कुमुद

पहला परिच्छेद

पौष मास की एकादशी का दिन था। शीत के आवरण में दबी हुई काशी नगरी प्रातःकाल के चार बज जाने पर भी अभी तक निश्चेष्ट भाव से सोई पड़ी थी। यद्यपि इस समय मन्दिरों से भोर होने की सूचना प्रायः नित्य ही सब को मिल जाया करती थी; तथापि आज धर्म और ईमान के ठेकेदार भी कड़ाके की ठंढ से मानो जड़वत् हो गये थे। उनका दोष भी क्या था? प्रकृति ने प्रतिबन्ध ही कुछ ऐसा लगा दिया था।

शीत के मारे आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब अपने घरों में चारपाइयों पर पड़े थे। किसी को द्वार से बाहर निकलने का साहस नहीं हो रहा था। सड़कें जन-शून्य थीं, और मोहल्लों में एक प्रकार की निस्तब्धता-सी छाई हुई थी।

ठीक इसी समय एक नवयुवती हाथ में गमछा और धोती लिये दशाश्वमेध घाट को चली। आह! बेचारी को इतनी शीत में भी शान्ति नहीं थी। ठंढ के मारे सभी सो रहे हैं, किन्तु उस बेचारी को ऐसे समय भी गंगा-स्नान की पड़ी थी। क्यों? इसलिए कि वह विधवा थी और प्रातः गंगा-स्नान करना उसका नित्य-नियम था। फिर उस दिन एकादशी थी। सारे दिन उपवास करना था। इसी से वह इतने सवेरे निकल पड़ी थी घर से। उसके लिये कोई यह नई बात नहीं थी। जाड़ा हो अथवा गरमी, चाहे कितना ही खराब मौसम क्यों न हो, वह बहुत तड़के स्नान को जाती।

घाट पर पहुँच कर युवती ने गमछा और धोती को सीढ़ी पर रख दिया और साहस करके शीतल गंगा-जल में उतर गई। अभी तक कोई भी मनुष्य घाट पर नहीं पहुँच पाया था। सर्व प्रथम इसी युवती ने जल में उतर कर 'छपाक' शब्द से घाट को प्रतिध्वनित किया और गिन कर पाँच डुबकी लगा कर जल से बाहर निकल आई। गमछे से शरीर पोंछ कर जल्दी-जल्दी अपने वस्त्र पहिने, और धोती धोकर चल दी मन्दिर की तरफ़। स्नान के समय तो उसे उतने शीत का अनुभव नहीं हुआ था; किन्तु अब वायु के स्पर्श से दाँत बजने लगे थे।

मन्दिर के पास पहुँच कर सहसा उसने एक बारीक आवाज़ सुनी—"कुमुद!"

युवती चलते-चलते ठिठक गई। उसे जान पड़ा, जैसे किसी ने उसी का नाम लेकर पुकारा हो। घूम कर उसने पास वाले मकान की ओर देखा। एक अधखुली खिड़की से कोई स्त्री झाँक रही थी। उसके सिर से खुली हुई लम्बी केश राशि खिड़की से बाहर वायु के झोकों में झूल रही थी। युवती को अपनी ओर ताकते हुए देख कर हाथ के संकेत से अपनी ओर बुलाते हुए धीरे से उसने कहा—"कुमुद! यहाँ आओ।"

कुमुद ने उसे पहिचान कर प्रसन्नता से खिड़की के पास पहुँच कर पूछा—"क्या है, सरोज? आज तुम..."

मुख पर अँगुली रख कर कुमुद को धीरे-धीरे बोलने का संकेत करते हुए सरोज ने कहा—"बहुत आहिस्ते से बोलना, कुमुद! बाबा यहीं पास के कमरे में पड़े हुए सो रहे हैं। इधर और पास आ जाओ, तुमसे कुछ ज़रूरी बात कहनी है।"

कुमुद खिड़की के बिलकुल पास खिसक गई और हँसते हुए बहुत आहिस्ता से बोली—"आज तो बहुत सावधान मालूम होती हो, सरोज! कहीं कुछ षड्यन्त्र तो नहीं रचा जा रहा है?"

उसे हँसते हुए देख कर सरोज ने गंभीरता से कहा—"उपहास छोड़ो, कुमुद ! यह हँसी करने का मौका नहीं। मैं जो कहती हूँ उसे ध्यान से सुनो। आज दादा ने तुम्हें मन्दिर में जाने के लिए मना कर दिया है।"

"दादा ने !" आश्चर्य से वह उछल पड़ी। जान पड़ा, मानो अनहोनी बात उसके कानों में पड़ गई हो। कारण जानने के लिए उत्सुकता से उसने पूछा—"आज मन्दिर में जाने को उन्होंने क्यों मना किया है ?"

"यह तो मैं नहीं जानती।" एक बार पीछे की ओर देख कर सरोज ने फिर कहा—"मुझसे तो उन्होंने रात में ही यह बात कही थी। बाबा के डर से वे पूरी बात भी नहीं बता सके। केवल तुम्हें मन्दिर में जाने को मना करके तुरन्त ही मेरे पास से चले गये। मौक़ा ही नहीं था, जो उनसे पूरी बात पूछती।"

कुमुद के मुस्कराते हुए चेहरे पर गंभीरता की लहर दौड़ गई। गंगा-स्नान करने के बाद वह प्रायः नित्य ही मन्दिर में आया करती थी; किन्तु आज तक किसी ने भी उसे वहाँ जाने को मना नहीं किया था। आज अनायास ही सरोज ने उपर्युक्त बात कह कर उसके मन को चंचल कर दिया। बड़ी देर तक वह कुछ स्थिर ही न कर सकी कि उसे करना क्या चाहिये। मन्दिर में जाये बिना भी वह नहीं रह सकती थी, और दादा के आदेश की उपेक्षा करना भी उसके सामर्थ्य की बात न थी। बड़ी कठिन समस्या थी उसके सामने। मुख नीचा किये वह बड़ी देर तक सोचती रही। जब कुछ स्थिर न कर सकी, तो अन्त में सरोज से परामर्श करने के लिये पूछ बैठी— "क्या करना चाहिये, सरोज ?"

परन्तु यह क्या ? सिर उठा कर कुमुद ने देखा कि वहाँ कोई भी नहीं था ! अधखुली खिड़की इस समय भी उसी प्रकार अधखुली हुई थी, पर सरोज का वहाँ कहीं पता नहीं

इतनी देर में ? कुमुद का दिल हठात् किसी अज्ञात आशंका से ऐंठ-सा गया। अवश्य ही बाबा जाग उठे होंगे, इसीलिये सरोज वहाँ से खिसक गई है। यह विचार पैदा होते ही कुमुद ने भी वहाँ से शीघ्र ही हट जाना उचित समझा। चलने के लिये उद्यत हो घूम पड़ी वहाँ से और जल्दी-जल्दी पैर उठाती हुई पक्की सड़क पर जा पहुँची। इस समय उसके हृदय में नाना प्रकार के विचारों का एक द्वन्द्व-सा मचा हुआ था। सरोज की बातों ने उसे असमञ्जस में डाल दिया था। मन्दिर में जाये अथवा घर वापस चली जाये—यही दो बातें इस समय उसके मन में उठ रही थीं। इन्हीं दो बातों का वह निर्णय नहीं कर पा रही थी। यद्यपि बात कुछ वैसी गूढ़ अथवा रहस्यमयी नहीं थी, फिर भी वह इसी साधारण-सी बात को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दे रही थी कि जिसका समाधान करना उसकी शक्ति से बाहर हो गया था।

वह विधवा थी, बालविधवा! अदूरदर्शी माता-पिता ने उसका विवाह बाल्यकाल में ही एक दस वर्ष के सुन्दर, कुलीन बालक के साथ कर दिया था। उस समय वह केवल पाँच वर्ष की ही थी विवाहोपरान्त दूसरे वर्ष ही उसके पिता का देहान्त हो गया। वह अपनी माँ के साथ अपनी बाल्यावस्था के दिन पूरे करने लगी।

अपने जीवन-काल में उसका पिता काफ़ी धन-संचय कर गया था अतएव उसकी माँ को जीवन-निर्वाह करने में विशेष कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। धीरे-धीरे आठ वर्ष इसी प्रकार व्यतीत हो गये, और कुमुद अब पूरे तेरह वर्ष की हो चुकी थी। अब उसकी माँ को उसे उसकी ससुराल भेजने की धुन सवार हुई; किन्तु एकाएक एक दिन उसने सुना कि कुमुद के पति का भी देहान्त हो गया, और वह बेचारी यौवन काल में पदार्पण करते ही विधवा हो गई। उसकी माँ इस दारुण दुःख को सहन न कर सकी, और कुछ समय तक

रोग-शय्या पर पड़ी रहने के बाद एक दिन वह भी उसे अकेली और निस्सहाय छोड़ कर इस असार संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करके चल बसी।

काशी में कुमुद की एक विधवा बुआ रहती थीं। उन्होंने जब कुमुद का हाल सुना, तो दया करके उसे अपने पास बुला लिया। उसकी ममता से, अथवा उसके पिता के छोड़े हुए धन के लोभ के कारण, यह तो ठीक से कहा नहीं जा सकता; किन्तु बुआ का वह कार्य कुमुद के लिए एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। कारण इस लोभी और स्वार्थी संसार में एक नवयौवना युवती का अकेली रहना किसी प्रकार भी निरापद नहीं कहा जा सकता।

काशी में कुमुद को बुआजी के साथ रहते हुए पूरे दो वर्ष बीत चुके थे। पिता और पति को तो वह भूल-सी चुकी थी, हाँ, कभी-कभी माँ की स्मृति उसे अवश्य दुखित कर दिया करती थी। वह भी बुआ के स्नेह-सिक्त व्यवहार के कारण धुँधली पड़ रही थी। देहात से आने पर बुआ ने उसे नित्य गंगा-स्नान करके मन्दिर में जाने का आदेश किया था, और तब से वह बराबर उनकी इस आज्ञा का पालन करती चली आ रही थी। एकादशी के दिन उपवास करना भी उन्होंने ही सिखाया था, और इसलिए वह इन दोनों ही नियमों का पालन कर रही थी।

आज अकस्मात सरोज के मुख से मन्दिर में न जाने की बात को सुन कर कुमुद का मन क्षुब्ध हो गया। वह बुआ की आज्ञा को टालने का साहस नहीं कर सकती थी, किन्तु साथ ही दादा के आदेश की भी वह अवहेलना नहीं करना चाहती थी। भगवान शंकर से उसे प्रेम हो गया था। धूप-दीप जला कर श्रद्धा के दो फूल चढ़ाये बिना वह किसी तरह भी नहीं रह सकती थी, भले ही दुनिया भर की कठिनाइयाँ उसके मार्ग में आकर बाधाएँ उपस्थित करें। इससे क्या

वह अपनी पूजा को बन्द कर देगी ? आराध्य-देव के दर्शन बिना किये क्या सीधी घर को चल देगी ? कभी नहीं ।

यही सोच कर वह अपने घर की ओर न जाकर सीधे विश्वनाथ के मन्दिर की ओर चल दी । वहाँ से मन्दिर अधिक दूर नहीं था। एक मोड़ घूम कर सामने ही विश्वनाथजी का विशाल मन्दिर था। शीत से ठिठुरती-सिकुड़ती हुई कुमुद मन्दिर के सामने जा पहुँची और सीढ़ियों पर चढ़ती हुई द्वार के पास जाकर रुक गई। मन्दिर के कपाट अभी तक बन्द थे; मालूम होता था, मानो पुजारीजी को आज सब से अधिक शीत लग रहा था, नहीं तो भला ब्रह्म मुहूर्त्त के आधे से अधिक बीत जाने पर भी अभी तक मन्दिर के कपाट क्यों नहीं खुले । आह कुमुद ! तेरी तपस्या का क्या यही परिणाम है ?

पुजारी आयें, या न आयें; मन्दिर के कपाट खुलें या न खुलें, भक्तों को उससे क्या प्रयोजन ? उनके तो हृदय में ही इष्टदेव की प्रतिमा सदा सर्वदा प्रतिष्ठित रहती है। कुमुद भी तो उन्हीं में से एक थी। बैठ गई वहीं मन्दिर के दरवाजे पर घुटने टेक कर। देवता के ऊपर चढ़ाने के लिए फूलों का प्रबन्ध वह रात में ही अपने घर पर कर लिया करती थी। घाट पर जाने से पहले ही वह उन फूलों को गमछे के एक छोर में बाँध लिया करती, और तब स्नान करके मन्दिर में आ जाया करती थी। आज भी आते समय वह फूल और धूप-दीप साथ में लाना नहीं भूली थी।

दरवाजे से बाहर चबूतरे पर धूप-दीप जला कर उसने वहाँ के वायु-मण्डल में एक सुगंध-सी भर दी, और तब मन ही मन विश्व-नाथजी की भव्य मूर्त्ति का ध्यान करके बड़े प्रेम और श्रद्धा से उन फूलों को भी समर्पित कर दिया।

पूजा करके कुमुद बड़ी श्रद्धा और परम भक्ति से उनकी स्तुति करने लगी—"भक्तों पर शीघ्र प्रसन्न होने वाले प्रभो ! दया के तुम

सागर हो, आनन्द और सुखों के भण्डार हो। तुम्हारी माया अपरम्पार है। शत्रुओं का विनाश कर के तुम हर समय अपने भक्तों को सुख पहुँचाते हो। हे प्रभो ! हे आशुतोष ! हे परम दयालु भगवान् शङ्कर ! इस अनाथिनी पर दया करो। इसका उद्धार करो। इसका बेड़ा पार करो।"

इसी प्रकार बहुत देर तक प्रार्थना करने के बाद वह उठी और अपने घर की ओर चल दी !

दूसरा परिच्छेद

काशी के निकट वन-वेलि-वेष्ठित, भाँति-भाँति के फूल-फलों से लदे हुए घने वृक्षों और लताओं से घिरे हुए सुन्दर निकुञ्ज में एक मठ बना हुआ था। काशी के आस-पास दूर-दूर तक वह स्थान 'मोक्ष-धाम' के नाम से प्रसिद्ध था। गंगा के पास ही वाम-पार्श्व में बने हुए इस मठ के निकुञ्ज में ही एक सुन्दर कुआँ भी बना हुआ था। कुएँ के पास पक्का चबूतरा था, जिसके चार कोनों पर चार वृक्ष लगाये गये थे। एक पीपल, दूसरा नीम, और दो वृक्ष इधर-उधर मौलश्री के लगे हुए थे; जिनकी घनी छाया सुबह से शाम तक हर समय उस चबूतरे पर बनी रहती थी। गर्मी के दिनों में जब लोग तपती हुई धूप में थकावट से चूर होकर यहाँ आते थे, तो इन्हीं वृक्षों की छाया में बैठ कर विश्राम करते थे। यहाँ बैठने मात्र से उनका सारा दुःख दूर हो जाता था।

स्वामी आलोकानन्द जी महाराज इस 'मोक्ष-धाम' के मठाधीश थे। यों तो उनके नाम के पीछे लोग अनेक उपाधियाँ लगा कर उनका सम्मान करते थे; किन्तु मुख्यतः जन-साधारण में वे परमहंसजी महाराज के नाम के प्रसिद्ध थे। नित्य सायंकाल चार से पाँच बजे तक वे कथा कहते थे, और पाँच से छः बजे तक धर्मोपदेश। इसके बाद छः से साढ़े सात और कभी-कभी तो आठ बजे तक वहाँ भगवद्-कीर्तन होता रहता था। प्रायः नित्य ही शाम को चार बजे के बाद लोगों की एक भीड़ एकत्र हो जाती थी। नगर भर से स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध—सभी श्रेणी के लोग वहाँ आकर स्वामी आलोकानन्द जी का धर्मोपदेश ग्रहण करते थे। काशी के लोग ही नहीं, वरन् कभी-कभी तो देश के अन्य स्थानों से आये यात्री लोग भी वहाँ आकर जमा हो जाते थे।

स्वामीजी की आयु तो अधिक नहीं थी, किन्तु इस आयु में ही उन्होंने काफ़ी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। छहों शास्त्र, अट्ठारहों पुराण और न जाने कितने उपनिषदों के वे ज्ञाता थे। उनका भाषण भी बड़ा प्रभावशाली होता था। अपने सदुपदेशों द्वारा वे लोगों के अशान्त हृदयों में शान्ति की एक लहर पैदा कर देते थे और अज्ञान-अन्धकार के परदे को हटा देते थे। उनकी वाणी में रस था, माधुर्य था, और थी एक प्रकार की आकर्षण शक्ति; जिससे प्रभावित होकर दूर-दूर से लोग उनके पास अनायास ही खिंचे चले आते थे। इतना ही नहीं, विद्वान् होने के साथ ही साथ वह सुन्दर, स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट भी काफ़ी थे। गौर वर्ण का लालिमायुक्त कुन्दन-जैसा शरीर और भरे हुए अङ्ग ब्रह्मचर्य के तेज से दैदीप्यमान हो रहे थे।

वृद्धों में वृद्ध-जैसा, युवकों में युवक समान और बालकों में बालक का-सा उनका स्वभाव था। स्त्री-शिक्षा के भी वह घोर पक्षपाती थे। प्राचीन काल से लेकर इस काल तक की तमाम सतियों का दृष्टान्त देकर वे स्त्रियों के चरित्र में भारी परिवर्त्तन कर दिया करते थे। सती-सीता अनुसुया और अहिल्या आदि सतियों के उपाख्यान सुना कर वे उनके हृदयों में सद्भावनाओं को जागृत करते और सावित्री का जीवन-चरित्र सुना कर उनके चरित्र को निर्मल बनाने की चेष्टा किया करते थे। संस्कृत और हिन्दी के ही वे विद्वान नहीं थे, बल्कि देश की अन्य भाषाओं के साथ ही साथ उन्होंने अङ्गरेजी, और चीनी भाषा का भी काफ़ी अध्ययन किया था। बुद्ध-गया में उन्होंने एक उच्चकोटि की संस्था की स्थापना की थी, जिसका नाम था 'हिमालय और तिब्बत का प्राचीन मिशन'।

मोक्षधाम में उनका अपना एक पुस्तकालय भी था, जो उपर्युक्त बुद्ध-गया वाली संस्था के नाम पर चालू किया गया था। उस पुस्तकालय में यों तो प्रायः सभी धर्मों के ग्रन्थ रक्खे गये थे, संख्या सनातन-धर्म और बौद्ध-धर्म की पुस्तकों की ही वहाँ

थी। बहुत-सी हस्त-लिखित पुस्तकें तिब्बत के सम्बन्ध में थीं, कुछ आसाम के पहाड़ी प्रदेश में बसने वाले नागा लोगों के सम्बन्ध की थीं, और अनेक पुस्तकें चीन और जापान में रहने वाले बौद्ध-धर्म के नेताओं द्वारा लिखित ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद की थीं।

सर्व-साधारण के लिये यह पुस्तकालय प्रायः हर समय खुला रहता था। किसी जाति अथवा किसी भी श्रेणी के लोगों के लिये वहाँ आकर पुस्तकों का अध्ययन करने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। यही कारण था कि वहाँ आने वाले लोगों की भीड़ प्रायः हर समय ही लगी रहती थी। सुबह से शाम तक एक मेला-सा लगा रहता था। कोई आता, कोई जाता। इसी प्रकार चौबीसों घण्टे ताँता बँधा रहता था। मोक्ष-धाम अपनी विचित्रता और अपूर्वता के कारण अल्प समय ही में जगत्प्रसिद्ध हो गया था। स्वामी आलोकानन्दजी ने उस निर्जन बन को भी अपने तेज और बल से आलोकित कर दिया था। उनके अथक परिश्रम और निःस्वार्थ सेवा भाव का ही यह परिणाम था कि उन्हें मोक्ष-धाम की उन्नति करने में आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी। प्रेमपूर्ण व्यवहार और शुद्ध आचरण के कारण दूर-दूर तक उनका नाम प्रसिद्ध हो चुका था।

निकटवर्ती स्थान में मोक्षधाम की स्थापना होने के कारण काशी में रहने वाली स्त्रियों को वहाँ पहुँचने में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। प्रायः नित्य ही शाम को चार बजे के बाद अधिक से अधिक संख्या में स्त्रियाँ वहाँ पहुँच जातीं थीं और बड़े प्रेम से स्वामीजी की कथा और धर्मोपदेश को श्रवण कर के आठ बजे के बाद सब अपने-अपने घरों को वापस चली जाती थीं। बहुत-सी प्रौढ़ा स्त्रियाँ ऐसी भी थीं, जो हर समय आश्रम में ही रहा करतीं थीं। स्वामीजी की सेवा करना वे अपना परम धर्म और पुनीत कर्तव्य समझतीं। यद्यपि स्वामीजी की ओर से वैसी कोई प्रगट नहीं की गई थी तथापि उन स्त्रियों की निजी इच्छा के

आधार पर वैसा करने की उन्हें आज्ञा दे दी गई थी और इसके लिये बाद में उनके ठहरने आदि का प्रबन्ध भी कर दिया गया था। उन स्त्रियों में अधिक संख्या विधवाओं की ही थी।

स्त्रियों के लिये ही उस आश्रम में ठहरने का प्रबन्ध किया गया हो, सो बात नहीं थी; ऐसा ही प्रबन्ध संसार से विरक्त और त्यागी पुरुषों के लिये भी किया गया था। उस मनोरम निकुञ्ज के एक ओर कुछ कमरे पुरुषों के लिये बनाये गये थे, और दूसरी ओर उतने ही कमरे स्त्रियों के लिये थे। दोनों ओर बने हुए कमरों की पंक्तियों के बीच में फैला हुआ अर्द्ध-गोलाकार मनोरमनिकुञ्ज और उसी के पास मध्य में बना हुआ ठण्ढे जल का कुआँ, जिसके चारों ओर चार बड़े-बड़े वृक्ष बड़ा सुन्दर दृश्य उपस्थित कर रहे थे। कुएँ के सामने थोड़ी दूर पर छः कमरों का एक छोटा-सा बंगला बना हुआ था, उसी में स्वामीजी स्वयं रहा करते थे। उनके सामने निकुञ्ज के दूसरी ओर उसी प्रकार का छः कमरों का एक दूसरा बंगला था, जिसमें उन्होंने पुस्तकालय खोल रक्खा था।

इस प्रकार चारों ओर बनी हुई ऊँची दीवार के भीतर 'मोक्षधाम' की स्थापना बड़े सुन्दर और सुव्यवस्थित रूप से की गई थी। आश्रम का नक्शा स्वामीजी ने स्वयं तैयार किया था, और इसीलिये वहाँ पर बने हुए कमरों, खिड़कियों और दालानों में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं पाई जाती थी। विशेष आडम्बर न करके प्रत्येक वस्तु वहाँ की स्वच्छ और सीधी-सादी बनाई गई थी। कमरों में हर समय शुद्ध वायु आने के लिए काफ़ी गुंजायश रक्खी गई थी। आश्रम की सफ़ाई का भी यथेष्ट प्रबन्ध था। कहीं भी किसी प्रकार का कूड़ा-कबाड़ जमा नहीं हो पाता था। बाहर चारों ओर बनी हुई ऊँची दीवारों में केवल दो दरवाजे बनाये गये थे। मुख्यद्वार पूर्व की ओर था, और दूसरा एक छोटा दरवाजा आश्रम की पश्चिम दिशा में बना हुआ था। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग प्रवेश करने के लिये नहीं बनाया गया था।

धार्मिक दृष्टि से हो अथवा प्रकृति के मनोरम दृश्यों की दृष्टि-कोण से, हर पहलू से मोक्षधाम एक उच्चकोटि का सर्वोत्तम आश्रम बनाया गया था। स्वास्थ्य के लिये भी वह अत्युत्तम माना जाता था। मुख्य-द्वार के सामने ही थोड़ी दूरी पर भागीरथी गंगा अपनी शान्त और गंभीर गति से बहती हुई दिखाई देती थीं। उस ओर से आई हुई शुद्ध और पवित्र वायु के स्पर्श मात्र से रोगियों का व्यथित हृदय भी एक बारगी ही प्रफुल्लित हो उठता था। चारों ओर दीवार के बाहर खड़े हुए ऊँचे-ऊँचे ताड़ और खजूर के वृक्ष ठीक एक सावधान चौकीदार के समान खड़े हुए दिखाई देते थे।

इस आश्रम की बात एक दिन कुमुद ने भी सुनी और तभी से उसका मन वहाँ जाकर स्वामीजी का धर्मोपदेश सुनने के लिये छट-पटाने लगा। यों तो वह गंगा-स्नान करके प्रायः नित्य ही मन्दिर में जा पूजा-पाठ किया करती थी, किन्तु यह था उसका नित्य का काम और इसीलिये शायद इसमें उसे किसी नवीनता का अनुभव नहीं हो पाता था। वह चाहती थी कुछ और देखना, नई नई बातें सुनना और ज़ो नहीं सीखी हैं उन्हें भी सीखना। मोहल्ले में प्रायः नित्य ही स्वामीजी के गुणों की चर्चा हुआ करती थी। स्वयं जब उसकी बुआ ही उनके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करतीं, तो फिर अन्य स्त्रियों की तो बात ही क्या ? आश्रम में जाकर स्वामीजी का उपदेश और कथा सुनने की उसे विशेष इच्छा होने लगी, किन्तु संकोचवश बुआजी से कह नहीं सकती थी, इसलिये बहुत दिनों तक चुप रही।

सरोज उसी के निकट रहती थी और उसकी अभिन्न हृदया सखी भी बन गई थी। दोनों में परस्पर बड़ा प्रेम था। कोई बात एक-दूसरे से छिपाती न थीं, किन्तु फिर भी न जाने क्यों, कुमुद उससे भी अपने हृदय की आकांक्षा को कह नहीं पाती थी। शायद बुआजी ने सिवा गंगा-स्नान और मन्दिर में जाने के अन्य किसी जगह जाने को उसे बिलकुल ही मना कर दिया था, इसीलिये वह अपनी ऐसी

इच्छाओं को मन ही मन दवाये रहती थी। वुआजी से वह वहुत डरती थी। उनकी किसी भी आज्ञा का उल्लंघन करना उसकी शक्ति के वाहर की वात थी, और इसीलिये उत्कट अभिलाषा होते हुए भी वह किसी पर उसे प्रगट करने का साहस नहीं कर सकती थी। उसे भय था तो केवल वुआजी का, नहीं तो और कोई भी उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे रोक नहीं सकता था।

प्रायः देखा गया है कि भगवान् अपने भक्तों को कभी न कभी ऐसा अवसर अवश्य देते हैं जब कि उसकी इच्छा वहुत अंशों में पूरी हो जाती है। यही वात कुमुद के साथ भी हुई। एक दिन मोक्षधाम में दूर-दूर से वड़े-वड़े विद्वान साधू और महात्मा आकर इकट्ठा हुए। सुनने में आया कि उन वड़े-वड़े ज्ञानी और वेदान्तियों का अनेक विषयों के ऊपर आपस में शास्त्रार्थ होगा। काशी भर में यह खवर विजली की तरह फैल गई। स्त्री और पुरुषों की एक वहुत वड़ी संख्या उमड़ पड़ी सागर की लहरों के समान मोक्ष धाम की तरफ। नगर के कोने-कोने से लोग खिंच चले उसकी ओर। वुआजी ने भी सुना और वह भी वहाँ जाने के लिये लालायित हो उठीं। मोहल्ले की अन्य स्त्रियों के साथ वह भी मोक्षधाम जाने के लिये तैयार हो गईं। सरोज के कहने से उन्होंने कुमुद को भी अपने साथ ले लिया और इस प्रकार उसकी इच्छा भी पूरी हो गई।

मोक्षधाम का कार्य-क्रम वड़े समारोह के साथ सम्पन्न हो रहा था। देखते ही वुआजी तो दंग रह गईं। उन्होंने आज तक कभी ऐसी धर्म-चर्चा नहीं सुनी थी। वहाँ का रंग-ढंग देखते ही वह आनन्द-विभोर हो उठीं, और उसी दिन उन्होंने वहाँ पहुँच कर नित्य धर्मोपदेश सुनने की प्रतिज्ञा भी कर ली। वस उसी दिन से कुमुद और वह दोनों ही वहाँ जाने लगीं।

तीसरा परिच्छेद

"धीरेन्द्र ! धीरेन्द्र ! ऐ धीरेन्द्र ! अरे, कहाँ चले गये भाई ?"

बीस-बाईस वर्ष के एक सुन्दर-स्वस्थ नवयुवक ने ऊँची अट्टालिका के सामने खड़े होकर दरवाजे के बाहर से आवाज़ दी। अट्टालिका बहुत बड़ी, किन्तु पुराने ढंग की बनी हुई थी। ऊपर-नीचे दो खण्ड थे, और प्रत्येक खण्ड में अनेक कमरे बने हुए थे। ऊपर के कमरों को दीवारें कई जगह से टूट-फूट गई थीं, किन्तु फिर भी न जाने क्यों, उसके मालिक ने उसकी मरम्मत नहीं कराई थी। जान पड़ता था, जैसे उस विशाल भवन का मालिक या तो एक दम से दरिद्र हो गया था, या लापरवाह हो जाने के कारण उसकी मरम्मत नहीं कराना चाहता था। कारण जो भी हो—बाहर से देखने में वह अट्टालिका ठीक उस उजड़े हुए भवन के समान दिखाई देती थी, जिसका अस्तित्व यदि पूरा नहीं, तो बहुत अंश में एक प्रकार से मिट गया हो। दरवाजे पर नाम लिखा था उसका 'मित्र-सदन'।

अट्टालिका के सामने पक्की सड़क तक फैला हुआ एक उद्यान भी था, जिसमें आम, अमरूद, लीची और कटहल के वृक्ष लगे हुए थे। उनकी दीर्घायु से स्पष्ट मालूम होता था कि वे सब पेड़ उन्हीं दिनों लगा दिये गये थे जब 'मित्र-सदन' बना ही बना था। उसके परिवर्तन के साथ-साथ वृक्षों की अवस्था में भी भारी परिवर्तन होता चला था।

क्यारियों के चिह्न यद्यपि इस समय भी मौजूद थे, किन्तु अब उनमें न तो वे रंग-बिरंगे फूलों के पौधे ही थे, और न कभी उनमें पानी ही चलता हुआ दिखाई देता था; बल्कि सूखी हुई क्यारियों में उनके स्थान पर कटेली, मकोय और अनेक जंगली झाड़ियाँ उग आई थीं। उन्हीं झाड़ियों के बीच में एक ओर एक कुआँ बना हुआ था,

जिसके चबूतरे का एक कोना और ऊपर चढ़ने की सीढ़ियाँ भी टूट-फूट कर नीचे गिर गई थीं, और इधर-उधर कबाड़-कूड़े का ढेर लगा हुआ था।

इसी 'मित्र-सदन' नाम की पुरानी अट्टालिका के द्वार पर खड़ा होकर वह युवक धीरेन्द्र नाम के किसी व्यक्ति को पुकार रहा था। उस अट्टालिका का नाम 'मित्र-सदन' क्यों रक्खा गया था? कुछ खास मित्रों की मण्डली वहाँ बैठ कर अपना मनोविनोद करती थी, अथवा मकान-मालिक के जाति-विशेष के आधार पर उसका नाम रक्खा गया था; यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। वहाँ की वर्तमान अवस्था देख कर, यही धारणा होती थी कि कुछ मनचले नवयुवक मित्रों की गुप्त बैठक होने के ही कारण उस मकान का नाम 'मित्र-सदन' रख दिया गया था, नहीं तो क्या ऐसे सुन्दर नाम का सम्बन्ध उस टूटे-फूटे खण्डहर के साथ जोड़ते हुए वहाँ के मालिक को तनिक भी संकोच न होता?

तीन-चार वार पुकारने पर भी जब उस मकान के भीतर से कोई उत्तर नहीं मिला, तो वह युवक स्वयं ही आगे बढ़ा। मकान के चारों ओर काँटेदार तारों का एक घेरा खिंचा हुआ था। उसी घेरे के बीच में सड़क के किनारे एक छोटा-सा मार्ग भीतर जाने के लिये था। लकड़ी के छोटे-छोटें तख्तों को जोड़ कर एक दरवाजा बनाया गया था, जिसमें इस वक्त केवल एक साँकल पड़ी हुई थी। युवक उसे खोल कर संकीर्ण द्वार से भीतर घुस गया और दरवाजे को पुनः भीतर से बन्द करके मकान की ओर बढ़ा। वहाँ तक पहुँचने के लिये उद्यान के बीच से होकर जाना पड़ता था, अतएव वह युवक लम्बी-लम्बी घास और झाड़ियों के बीच में बनी हुई पगडण्डी के ऊपर जल्दी-जल्दी पैर उठाता हुआ आगे बढ़ने लगा। जान पड़ता था, उसे दिन के समय भी वहाँ जाते हुए भय लग रहा था।

केवल दो सीढ़ियाँ चढ़ने पर मकान का दालान था। उसके सामने तीन दरवाजे थे, और दो इधर-उधर के दो कमरों के मालूम होते थे। वे सभी दरवाजे इस समय बन्द थे, किन्तु बाहर से कोई साँकल अथवा ताला नहीं पड़ा हुआ था, इस लिये स्पष्ट था कि मकान के भीतर अवश्य ही उस समय कोई मनुष्य रहा होगा, तभी तो बाहर से न होकर दरवाजे अन्दर की तरफ़ से बन्द किये हुए थे। युवक ने सामने के दरवाजों में से एक को बाहर खटखटाया, किन्तु कोई जवाब न पाकर दूसरे पर दस्तक दी। और जब उस पर भी कोई जवाब न मिला, तो बारी-बारी से उसने और सभी दरवाजों को खटखटा दिया। किन्तु आश्चर्य था कि आवाज़ इतनी ज़ोरदार और ऊँची होने पर भी कमरे के भीतर से कोई जवाब नहीं मिल रहा था। युवक हत-बुद्धि-सा हो क्षण भर तक कुछ सोचने लगा।

जान पड़ता था वह युवक पहले भी अनेक बार वहाँ आ चुका था, इसीलिये शायद वह उस मकान के सभी मार्गों से भली-भाँति परिचित था। जब इतनी चेष्टा करने पर भी नीचे वाले खण्ड से उसे कोई उत्तर नहीं मिला, तो उसने सोचा कि उस मकान में रहने वाले शायद ऊपर के कमरों में रहते होंगे, किन्तु उसकी आवाज़ों का कोई न कोई उत्तर तो मिलना ही चाहिये था? बहुत सम्भव है कि मकान बड़ा और अनेक कमरे होने के कारण वहाँ तक उसकी आवाज ही न पहुँचती हो। ऊपर के खण्ड में पहुँचने के लिये दो रास्ते थे। एक सीढ़ी तो उसी कमरे में से होकर जाती थी, जो दालान की बग़ल में बना हुआ था, और दूसरी सीढ़ी का रास्ता मकान के पीछे वाले भाग में बनाया गया था। सामने के सभी कमरे इस समय बन्द थे, इसलिये युवक को मकान के पीछे से जाना पड़ा।

सामने की अपेक्षा पीछे का भाग तो और भी गन्दा था। जगह-जगह टूटी हुई ईंटों और पत्थरों के ढेर लगे हुए थे। लम्बी घास और काँटेदार झाड़ियों के कारण छोटी-सी पगडण्डी और भी अस्पष्ट हो

गई थी। गोखरू और कटेली के कारण रास्ता चलना भी दूभर हो गया था। असावधानी से चलने पर कपड़ों के फट जाने में तनिक भी सन्देह नहीं था। मालूम नहीं, उस स्थान पर सफ़ाई कराना किसी ने क्यों ज़रूरी नहीं समझा। आखिर कोई न कोई तो वहाँ रहता ही होगा? फिर ऐसी लापरवाही का भला क्या कारण? क्या इसमें कोई रहस्य है?

जैसे-तैसे वह युवक बड़ी कठिनाई से मकान के पीछे पहुँचा। इस भाग में कोई दरवाजा अथवा खिड़की पुरानी बनी हुई नहीं थी। केवल एक दरवाजा था, जिसके मसाले और ईंटों से स्पष्ट मालूम होता था कि वह अभी कुछ ही दिन हुए बनाया गया होगा। यही दरवाजा ऊपर जाने वाली सीढ़ियों का था। लगभग वे सभी सीढ़ियाँ बहुत थोड़े दिन पहले की बनाई हुई मालूम होती थीं। सौभाग्य से दरवाजा इस समय बिना साँकल के ही बन्द किया हुआ था। युवक ने दस्तक देने के लिये जैसे ही उसके ऊपर हाथ मारा वैसे ही वह खुल गया। दरवाजे के खुलते ही युवक की परेशानी बहुत हद तक दूर हो गई, और उसने एक सन्तोष की साँस ली। फिर उसी प्रकार दरवाजे को भीतर से बन्द करके वह ऊपर जा पहुँचा।

ऊपर के खण्ड में वह सीढ़ी एक लम्बे-चौड़े दालान में पहुँचती थी। दालान के चारों ओर खूब बड़े-बड़े कमरे बने हुए थे, किन्तु उनमें से पश्चिम की तरफ़ वाले कुछ कमरे बिलकुल बेकार हो चुके थे, किसी की छत गिर पड़ी थी, और किसी की दीवारें ही ढह गई थीं। दक्षिण की ओर भी यही दशा थी। यद्यपि उधर के कमरों में दो-तीन कमरे अभी तक देखने में बिलकुल ठीक मालूम होते थे, किन्तु वे भी बरसात के दिनों में रहने के योग्य नहीं थे। छत में जगह-जगह पर दरार-सी पड़ चुकी थीं, जिनसे पानी चूने का चिह्न स्पष्ट दिखाई देता था। पूर्व और उत्तर की तरफ़ वाले कमरे अभी तक कुछ ठीक अवस्था

सें थे, यद्यपि उनकी छतों की हालत भी कुछ सन्तोषप्रद नहीं कही जा सकती थी, तथापि वे कहीं अधिक अच्छे थे।

दालान में पहुँच कर युवक ने पूर्व की तरफ़ वाला एक कमरे का दरवाजा खुला देखा। उसमें प्रवेश करने के बाद दो कमरे और वैसे ही मिले। उनमें आने-जाने के लिये मार्ग तो अवश्य था, किन्तु दरवाज़ा किसी में भी नहीं लगाया गया था। बहुत सम्भव है, पहले उनमें दरवाजे लगे हों और अब समय के परिवर्तित होते ही टूट-फूट जाने के कारण उन्हें वहाँ से दूर हटा दिया हो। युवक तीनों कमरों में से निकलता हुआ उस पार जा पहुँचा। वे तीनों कमरे यद्यपि बहुत बड़े-बड़े और साफ़-सुथरे थे, तथापि उनमें किसी में सामान कुछ भी नहीं था, एक दम से खाली और बिलकुल साफ़ पड़े हुए थे। एक टूटी चारपाई तक नहीं थी किसी में। उन कमरों के बाद संकीर्ण गली के समान एक छोटा दालान और था। उस दालान के बाद पाँच कमरे ऐसे थे, जो ख़ूब साफ़ और कुछ जरूरी सामान से सजे हुए भी थे।

युवक उन्हीं कमरों में से एक के सामने जा कर रुक गया। उसके भीतर, कमरे के नाप की एक बड़ी-सी शतरंजी बिछी हुई थी। एक तरफ़ नेवाड़ के पलंग पर एक बिछौना लपेटा हुआ रक्खा था। पलंग के सामने फ़र्श के ऊपर एक मोटा गद्दा और उसके ऊपर साफ़ धुली हुई श्वेत चादर बिछी हुई थी। दीवार के सहारे दो-तीन बड़े-बड़े गाव-तकिये भी रक्खे हुए थे। दरवाजे के सामने ड्रेसिंग-टेबिल पर कंघी, शीशा, ब्रश और 'बंगाल कैमिकल वर्क्स' के बने हुए तिल-ऑयल की शीशी रक्खी हुई थी। दीवारों पर चारों ओर चार फ़ोटो टँगे थे, जो सम्भवतः मालिक मकान या उनके किसी सगे-सम्बन्धी के रहे होंगे। इसके सिवा दो-चार जरूरी सामान वहाँ और थे। उस समय फ़र्श के गद्दे के ऊपर सिर से पैर तक एक चादर ओढ़े हुए कोई सो रहा था।

युवक ने दरवाजे पर खड़े होकर एक बार भीतर की ओर झाँक देखा, और तब उस सोए हुए मनुष्य को लक्ष्य करके उसने कुछ

ऊँची आवाज़ से पुकार कर अँगरेज़ी में पूछा—"क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ?"

पहली आवाज़ कुछ नीची, फिर उससे ऊँची और तब बहुत ही ज़ोरदार आवाज़ में उसने चिल्ला कर अपने उपर्युक्त वाक्य को दोहराया। इस बार की आवाज़ कमरे और दालान में सब जगह गूँज उठी। सोया हुआ मनुष्य हड़बड़ा कर उठ बैठा और दरवाजे पर खड़े हुए युवक को आँखें मिचमिचाता हुआ देखने लगा।

पहिचानते ही सहसा उसके मुख से निकल पड़ा—"ओह, सुरेश दादा! आओ भई, आओ न!"

और तब तुरन्त ही उठ कर उसने सुरेश से हाथ मिलाया और बड़े तपाक से गद्दे पर ले जाकर बैठा दिया। इधर-उधर उलटी पड़ी चादर को ठीक करते हुए उसने पूछा—"कब से खड़े थे, यार?"

सुरेश ने मुस्कराते हुए कहा—"यहाँ तो कोई दो मिनट से ही खड़ा था, किन्तु बाहर बहुत देर से टक्करें मार रहा था। पहले सड़क पर खड़ा आवाज़ें देता रहा, फिर नीचे के दालान में और तब अन्त में हार कर तुम से बिना पूछे ही यहाँ ऊपर चला आया। ख़ूब सोते हो यार तुम तो!"

धीरेन्द्र ने कुछ झेंपते हुए कहा—"भई, रात भर का जागा हुआ था, मेरा भी क्या दोष? एक जगह प्रोग्राम था। वहाँ से आकर जो पड़ा हूँ तो फिर उठने का नाम ही नहीं लिया।"

सुरेश ने पूछा—"कल की बात तो कल हो गई, आज का क्या प्रोग्राम है?"

"कल से भी अच्छा। इसीलिये तो आज तुम्हें भी बुलाया है। मैं कपड़े पहन लूँ ज़रा, अभी चलते हैं।"

इसके बाद धीरेन्द्र हाथ-मुख धोकर कपड़े पहनने लगा, और सुरेश तब तक वहीं बैठा रहा। थोड़ी देर में तैयार होकर दोनों वहाँ से निकले और एक ओर को चल दिये।

चौथा परिच्छेद

चैत्र मास आधे से अधिक बीत चुका था। वायु-मण्डल में शीत की अपेक्षा उष्णता का अंश क्रमशः बढ़ता जा रहा था। मौसम बदलता जा रहा था, और अब धीरे-धीरे गरमी का प्रभाव तीव्रतर होता जा रहा था।

शुक्ल-पक्ष की रात्रि का समय था। अनन्त नीलाकाश पर चन्द्रमा की शान्त और शीतल रश्मियां बिखरी पड़ रही थीं, किन्तु बादल के छोटे-छोटे टुकड़े वायु में उड़ कर कभी-कभी चन्द्रमा को ढक लेने की अनधिकार चेष्टा कर बैठते थे।

ऐसे ही समय गंगा के निर्मल जल के ऊपर एक बड़ा-सा बजड़ा मन्थर गति से विष्णुपुर की ओर जाता हुआ दिखाई देता था। बजड़े के ऊपर का भाग खुला हुआ था और उसमें एक बड़ी शतरंजी के ऊपर श्वेत धुली हुई चादर बिछा दी गई है। उस के ऊपर इस समय चार मित्र बैठे हुए आपस में बातचीत करके अपना मनोविनोद कर रहे थे। प्रत्येक के सामने बिखरे हुए ताश के पत्ते उस समय भी पड़े थे। जिनसे ज्ञात होता था वे लोग अभी-अभी ताश खेल कर हटे थे, और अब उनसे जी भर जाने के कारण आपस में बातें करनी शुरू कर दी थीं।

एक युवक ने अपने साथी की ओर देख कर कहा—"भई धीरेन्द्र बाबू! आज की रात है वास्तव में बड़ी चित्त को लुभाने वाली। देखो न, आकाश कितना साफ़ और चाँदनी कितनी उज्ज्वल है!"

धीरेन्द्र ने कुछ अन्यमनस्कता से कहा—"हाँ, है तो कुछ ऐसा ही चित्ताकर्षक समय, परन्तु......।"

कहते-कहते धीरेन्द्र चुप हो गया। शायद मन की बात वह किसी पर प्रकट नहीं करना चाहता था। उसे चुप होता हुआ देख कर दूसरे साथी ने आग्रह से पूछा—"क्यों, क्यों भई, चुप क्यों हो गये ?"

धीरेन्द्र फिर भी कुछ न बोला। इस बार उसके साथी ने कुछ हठ के साथ कहा—"नहीं बोलोगे ? धीरेन्द्र बाबू, याद रक्खो—मित्रों में बैठ कर दिल की कोई भी बात छिपाना ठीक नहीं होता।"

वह अब भी चुप रहा। जान पड़ता था 'परन्तु' शब्द पर उसे पश्चाताप हो रहा था। जो बात नहीं कहने की उसे इच्छा थी, उसी को कहने के लिए वह उद्यत हो गया था। सावधान होने पर छिपाने की चेष्टा भी की, परन्तु अब उसके साथी ही कब छोड़ने वाले थे। तीर कमान से निकल चुका था।

धीरेन्द्र को चुप देख कर एक अन्य साथी ने अपने सामने वाले साथी को लक्ष्य करके व्यंग से कहा—"भाई, इनका दिमाग़ आजकल कुछ खराब हो गया है। गरमी का मौसम शुरू हो चुका है न ?"

"यह बात नहीं हैं, कालीचरन !" उसने उसकी बात का विरोध करते हुए कहा—"वास्तव में बात यह है कि आज-कल धीरेन्द्र बाबू की जेब एक दम से खाली हो चुकी है, और यह बात सभी जानते हैं कि बिना पैसे का आदमी पागल-सा हो जाता है। उसे न तो खाना अच्छा लगता है, और न पानी ही।"

कालीचरन ने उसकी बात का समर्थन करते हुए कहा—"बात तो तुमने ठीक ही कही, दामोदर ! लेकिन भाई, इसमें हमारा क्या दोष ? हमने तो इन्हें ऐसी अच्छी तरकीब बताई थी कि यदि इनमें जरा भी बुद्धि होती, तो हमारी बात को मान कर अब तक लाखों के आदमी बन गये होते, जनाब—लाखों के !"

दामोदर ने कुछ गर्व के साथ कहा—"परन्तु इसमें जरूरत है साहस और उत्साह की। हमारे धीरेन्द्र बाबू में इन दोनों ही बातों

की कमी है। काम जोखिम का जरूर है, लेकिन आमदनी भी तो माक़ूल है आखिर हम लोग भी तो करते हैं उसी काम को। सिर पर भारी खतरा होते हुए भी हम उसी काम को करते हैं और देखते-देखते हज़ारों रुपया जेब में डाल लेते हैं, और फिर उसी से दिल खोल कर उड़ाते हैं, ऐश करते हैं।"

चारों साथियों में से एक अभी तक चुपचाप बैठा उन लोगों की बातें सुन रहा था। दामोदर की बात ने उसे कुछ चंचल-सा कर दिया था। उत्सुकता से उसने पूछा—"भाई! ऐसा क्या काम करते हैं आप लोग, जो जरा-सा परिश्रम करने से ही हज़ारों रुपया प्राप्त कर लेते हैं। मुझे भी तो बता दो कुछ ऐसी तरकीब?"

दामोदर ने उत्तर देने के लिये मुख खोला ही था कि इतने में धीरेन्द्र बीच ही में बोल पड़ा—"क्या करोगे सुरेश दादा, वे सब बातें सुन कर? इन लोगों की बातें भी कोई बातें हैं, झूठी एकदम से बिना सिर-पैर की!"

और इसके बाद धीरेन्द्र एक रूखी हँसी से खिलखिला कर हँस पड़ा; साथ ही उसने दामोदर को चुप रहने के लिए भी हाथ से संकेत कर दिया, परन्तु सुरेश की तेज़ निगाहों के आगे धीरेन्द्र का संकेत और उसकी वह अस्वाभाविक हँसी छिपी न रह सकी। एक ही दृष्टि में उसे मालूम हो गया कि धीरेन्द्र और उसके साथी उसे वह बात नहीं बताना चाहते हैं, और उसे जानने के लिये उसने हठ करना भी उचित नहीं समझा, किन्तु उन तीनों से भविष्य में सावधान रहने का उसने मन ही मन निश्चय कर लिया। उनके आचरण पर उसे सन्देह होने लगा।

दामोदर और कालीचरन के साथ उसका परिचय आज ही हुआ था। वह यह भी नहीं जानता था कि वे दोनों रहते कहाँ हैं, अथवा क्या काम करते हैं। धीरेन्द्र ने ही उन दोनों के साथ उसका परिचय कराया था। उसे वह पहले से जानता था। सुरेश और वह 'काशी-

वेश्वविद्यालय' में एक साथ बहुत दिनों तक शिक्षा प्राप्त करते रहे थे और इसी कारण दोनों में परस्पर काफ़ी घनिष्ठता बढ़ गई थी। एण्ट्रेन्स में पढ़ते समय धीरेन्द्र की माँ का स्वर्गवास हो गया था, और जब वह इन्टर में पहुँचा, तो उसके पिताजी का भी देहान्त हो गया। इसके बाद उसने पढ़ना छोड़ दिया।

सुरेश के माता-पिता दोनों जीवित थे। धन-सम्पन्न एवम् समृद्धि-शाली होने के कारण उसके पिता ने उसके बी० ए० पास करने के बाद उसे वकालत पढ़ने के लिये प्रयाग भेज दिया। एल-एल० बी० की डिग्री प्राप्त करके सुरेश जब अपने घर वापस आया, तो उसे अपने पुराने मित्र धीरेन्द्र की याद आई! अवकाश मिलते ही जब वह उसके मकान पर उससे मिलने के लिये गया, तो उसकी वर्तमान उच्छृंखल अवस्था देख कर उसे काफ़ी दुःख हुआ। मात-पिता के न होने पर जो अवस्था विवेक-बुद्धि-शून्य एक नवयुवक की होती है, वही हाल उसने धीरेन्द्र का भी देखा।

धीरेन्द्र के पिता ने अपने जीवन-काल में बहुत थोड़ा धन संचय कर पाया था। उसी को वे मरने के बाद अपने बेटे धीरेन्द्र के उड़ाने के लिये छोड़ गये थे। यदि चाहता, तो धीरेन्द्र उन कुछ हज़ार रुपयों से ही कोई व्यापार शुरू कर सकता था, किन्तु ऐसा न करके उसने उस अल्प पूँजी का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया। इस काम में उसके स्वच्छन्द विचारों और दुराचारी मित्रों ने उसकी ख़ूब सहायता की। सिर पर कोई सगा-सम्बन्धी तो था ही नहीं, जो उसके काम में बाधा देता। परिणाम स्वरूप अल्प समय ही में वह पैसे-पैसे को मोहताज रहने लगा।

सुरेश से अपने मित्र की दीन अवस्था देखी न गई, और मन मन उसने उससे बुरा काम छुड़ा कर उसके जीवन को उन्नत दृढ़ संकल्प कर लिया। अधिक समय वह अब उसी के पा [illegible]

लगा, किन्तु साथ ही उसे अपनी ओर भी देखना नितान्त आवश्यक था। पिता की दृष्टि से अधिक समय तक दूर रहना उसके लिये निरापद नहीं था। उसके पिता कुलीन ब्राह्मण और बड़े धार्मिक पुरुष थे। सामाजिक जीवन में भी वे काफ़ी बढ़े हुए थे, अतएव उनकी दृष्टि से छिपा कर कोई काम करना सुरेश के लिये असम्भव ही था।

धीरेन्द्र के कहने से आज वह अनायास ही रात्रि-भ्रमण के लिये निकल पड़ा था। यदि और कोई समय होता, तो वह साफ़ मना कर देता; किन्तु एक तो बहुत दिनों के बाद वह उससे मिला था, दूसरे उसकी दीनावस्था देख कर उसे उसके साथ पूर्ण सहानुभूति हो गई थी। जैसे भी हो, वह उसके जीवन को सुधारना चाहता था और इसीलिये वह उसकी मित्र-मण्डली के तमाम सदस्यों से मिल कर उनके बारे में अनुभव करना चाहता था कि कौन कैसे स्वभाव का आदमी है। सब बातों से भली-भाँति परिचित होने बाद अपना कार्य-क्रम बनाने का उसने निश्चय कर लिया था।

किन्तु आज की बातों से उसे अनुभव हुआ कि दामोदर और कालीचरन अवश्य ही कोई काम ऐसा करते हैं, जो समाज के लिये घातक और क़ानून के विरुद्ध कहा जा सकता है। धीरेन्द्र के चेहरे पर उठे हुए उस समय के भाव सुरेश की धारणा को पुष्ट कर रहे थे। उन दोनों का स्वभाव भी सुरेश को पसन्द नहीं आया था। आज के इस अल्प संसर्ग से ही उसे पता चल गया कि दामोदर और कालीचरन पक्के धूर्त और परले सिरे के दुराचारी हैं।

सुरेश को उन लोगों का पूरा हाल जानने के लिए कौतूहल-सा होने लगा। बड़ी सरलता और सीधेपन से उसने दोनों की ओर संकेत करते हुए धीरेन्द्र से पूछा—"आप दोनों महाशय रहते कहाँ हैं?"

उसके इस प्रश्न से धीरेन्द्र और भी विचलित हो उठा। वह स्वयं नहीं जानता था कि उन दोनों के रहने का असली ठिकाना कहाँ

है। एक जगह वे लोग रहते भी नहीं थे। कभी यहाँ, कभी वहाँ और कभी कहीं। हर समय इधर-उधर घूमते रहते थे। अधिकांश समय उनका बजड़े के ऊपर ही बीता करता था। एक दिन अनायास ही हरिश्चन्द्र-घाट पर उनके साथ इसकी मुलाक़ात हो गई थी, और तभी से वे लोग इसके मित्र बन बैठे थे। उन्हें पढ़ना-लिखना नहीं आता था। यह उनकी चिट्ठी-पत्री लिख दिया करता था। बस, यही मुलाक़ात थी।

धीरेन्द्र को असमञ्जस में फँसा हुआ देख कर कालीचरन ने धूर्तता से पूछा—"क्यों जनाब! हमारा पता पूछ कर आप क्या करेंगे? पुलीस को बुला कर हमें पकड़वाना चाहते हैं क्या?"

सुरेश ने उसी प्रकार सरलता से हँसते हुए कहा—"आप लोगों ने किसी का क्या बिगाड़ा है, जो पुलिसवाले आकर आप लोगों को पकड़ेंगे? यह बात क्यों पैदा हुई आप के मन में?"

कालीचरन उसका उत्तर सुन कर स्वयं ही कुछ झेंप-सा गया। यह बात उसे कहनी भी नहीं चाहिये थी। ऐसी बातों से व्यर्थ ही दूसरे के मन में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। लेकिन सच्ची बात तो आ ही जाती है मुख पर।

अपनी बात को टालने के ख़्याल से वह बोला—"डर लगता है, बाबा! आप तो वकील साहब हैं न?"

उसकी बात पर सुरेश जान-बूझ कर ज़ोर से खिलखिला कर हँस पड़ा। वे तीनों भी उसके साथ ही मिल कर हँसने लगे, और इस प्रकार सुरेश ने बड़ी बुद्धिमानी से वह बात ज्यों की त्यों हँसी के प्रवाह में ही उड़ा दी।

इसके बाद वे लोग और-और बातें करने लगे। बड़ी देर तक इधर-उधर की बात करके वे लोग आपस में गपशप करते रहे। बीच में एक बार दामोदर ने कहा—"अरे भाई! वह खाने-पीने का सामान क्या यों ही रक्खा रहेगा?"

लगा, किन्तु साथ ही उसे अपनी ओर भी देखना नितान्त आवश्यक था। पिता की दृष्टि से अधिक समय तक दूर रहना उसके लिये निरापद नहीं था। उसके पिता कुलीन ब्राह्मण और बड़े धार्मिक पुरुष थे। सामाजिक जीवन में भी वे काफ़ी बढ़े हुए थे, अतएव उनकी दृष्टि से छिपा कर कोई काम करना सुरेश के लिये असम्भव ही था।

धीरेन्द्र के कहने से आज वह अनायास ही रात्रि-भ्रमण के लिये निकल पड़ा था। यदि और कोई समय होता, तो वह साफ़ मना कर देता; किन्तु एक तो बहुत दिनों के बाद वह उससे मिला था, दूसरे उसकी दीनावस्था देख कर उसे उसके साथ पूर्ण सहानुभूति हो गई थी। जैसे भी हो, वह उसके जीवन को सुधारना चाहता था और इसीलिये वह उसकी मित्र-मण्डली के तमाम सदस्यों से मिल कर उनके बारे में अनुभव करना चाहता था कि कौन कैसे स्वभाव का आदमी है। सब बातों से भली-भाँति परिचित होने बाद अपना कार्य-क्रम बनाने का उसने निश्चय कर लिया था।

किन्तु आज की बातों से उसे अनुभव हुआ कि दामोदर और कालीचरन अवश्य ही कोई काम ऐसा करते हैं, जो समाज के लिये घातक और क़ानून के विरुद्ध कहा जा सकता है। धीरेन्द्र के चेहरे पर उठे हुए उस समय के भाव सुरेश की धारणा को पुष्ट कर रहे थे। उन दोनों का स्वभाव भी सुरेश को पसन्द नहीं आया था। आज के इस अल्प संसर्ग से ही उसे पता चल गया कि दामोदर और कालीचरन पक्के धूर्त और परले सिरे के दुराचारी हैं।

सुरेश को उन लोगों का पूरा हाल जानने के लिए कौतूहल-सा होने लगा। बड़ी सरलता और सीधेपन से उसने दोनों की ओर संकेत करते हुए धीरेन्द्र से पूछा—"आप दोनों महाशय रहते कहाँ हैं?"

उसके इस प्रश्न से धीरेन्द्र और भी विचलित हो उठा। वह स्वयं नहीं जानता था कि उन दोनों के रहने का असली ठिकाना कहाँ

है। एक जगह वे लोग रहते भी नहीं थे। कभी यहाँ, कभी वहाँ और कभी कहीं। हर समय इधर-उधर घूमते रहते थे। अधिकांश समय उनका बजड़े के ऊपर ही बीता करता था। एक दिन अनायास ही हरिश्चन्द्र-घाट पर उनके साथ इसकी मुलाक़ात हो गई थी, और तभी से वे लोग इसके मित्र बन बैठे थे। उन्हें पढ़ना-लिखना नहीं आता था। यह उनकी चिट्ठी-पत्री लिख दिया करता था। बस, यही मुलाक़ात थी।

धीरेन्द्र को असमञ्जस में फँसा हुआ देख कर कालीचरन ने धूर्तता से पूछा—"क्यों जनाब! हमारा पता पूछ कर आप क्या करेंगे? पुलीस को बुला कर हमें पकड़वाना चाहते हैं क्या?"

सुरेश ने उसी प्रकार सरलता से हँसते हुए कहा—'आप लोगों ने किसी का क्या बिगाड़ा है, जो पुलिसवाले आकर आप लोगों को पकड़ेंगे? यह बात क्यों पैदा हुई आप के मन में?"

कालीचरन उसका उत्तर सुन कर स्वयं ही कुछ झेंप-सा गया। यह बात उसे कहनी भी नहीं चाहिये थी। ऐसी बातों से व्यर्थ ही दूसरे के मन में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। लेकिन सच्ची बात तो आही जाती है मुख पर।

अपनी बात को टालने के ख़्याल से वह बोला—"डर लगता है, बाबा! आप तो वकील साहब हैं न?"

उसकी बात पर सुरेश जान-बूझ कर ज़ोर से खिलखिला कर हँस पड़ा। वे तीनों भी उसके साथ ही मिल कर हँसने लगे, और इस प्रकार सुरेश ने बड़ी बुद्धिमानी से वह बात ज्यों की त्यों हँसी के प्रवाह में ही उड़ा दी।

इसके बाद वे लोग और-और बातें करने लगे। बड़ी देर तक इधर-उधर की बातें करके वे लोग आपस में गपशप करते रहे। बीच में एक बार दामोदर ने कहा—"अरे भाई! वह खाने-पीने का सामान क्या यों ही रक्खा रहेगा?"

कालीचरन ने प्रसन्नता से उछल कर कहा—"हाँ-हाँ, लाओ न अभी तो उसका आनन्द आयेगा।"

दामोदर तुरन्त उठ कर सब सामान ले आया। दूसरे क्षण ही वहाँ पर दो बोतल शराब, काँच के गिलास और कुछ नमकीन लाकर सजा दी गईं। कालीचरन ने गिलास भर कर सुरेश को देना चाहा, परन्तु बहुत आग्रह करने पर भी जब उसने नहीं लिया, तो वे तीनों ही पीने-पिलाने लगे। अब सुरेश ने वहाँ ठहरना उचित नहीं समझा। बड़ी-बड़ी मिन्नतें करके बजड़े को उसने किनारे से लगवाया और उतर कर अकेला ही अपने घर की तरफ़ को चल दिया।

कुछ दूर जाने पर पीछे से उसने सुना। दामोदर कह रहा था—"भाई! ऐसे लोगों से हमेशा दूर ही रहना अच्छा है।"

सुरेश के मुख पर मुस्कराहट छा गई, और वह जल्दी-जल्दी पैर उठाता हुआ घर की तरफ़ बढ़ने लगा।

पाँचवाँ परिच्छेद

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

"जिसने अभ्यासमय जीवन व्यतीत किया है, उसी ने परम दिव्य पुरुष की प्राप्ति की है।"

अभ्यास करने से कठिन से कठिन और असम्भव कार्य भी कभी-कभी सम्भव हो जाते हैं। गीता में ठीक ही कहा गया है।

स्वामी आलोकानन्दजी में पुरुषार्थ अथवा किसी प्रकार के अभ्यास की कमी नहीं थी। बोलने का अभ्यास, चलने का अभ्यास, काम करने का अभ्यास और योगाभ्यास आदि न जाने कितनी प्रकार के अभ्यास उन्होंने किये थे। इसीलिये उनकी शारीरिक अवस्था इतनी अच्छी थी। किसी भी शुभ कार्य को करने में वे कभी पीछे नहीं हटते थे, एक बार किसी काम में हाथ लगाने के बाद बिना उसे पूरा किये वे उसे छोड़ते न थे। भाषण देने में, पैदल चलने में और अधिक से अधिक परिश्रम करने में, वे कभी भी हतोत्साह नहीं होते थे। प्रतिक्षण अपने काम में व्यस्त रहते।

नित्य संध्या समय चार बजे से आठ बजे तक कथा-वार्त्ता और धर्मोपदेश करने का तो बँधा हुआ उनका नियम ही था; किन्तु इसके अतिरिक्त भी अन्य समय में लोग उन्हें चैन नहीं लेने देते थे। सदा ही धर्म-शिक्षा प्राप्त करने वालों का उनके पास मेला लगा रहता था। जिस प्रकार तीर्थ-स्थान यात्रियों से कभी खाली नहीं रहता, उसी प्रकार मोक्षधाम भी दर्शनार्थियों से प्रायः हर समय भरा ही रहता था। धार्मिक-शिक्षाओं के लिये मोक्षधाम एक उच्चकोटि का केन्द्र

माना जाने लगा था। ऐसे व्यक्तियों के लिये वह पवित्र तीर्थ-स्थान बन गया था।

दो-तीन गुजराती बम्बई की तरफ से वहाँ आये हुए थे। बहुत से तीर्थों का भ्रमण करके अन्त में वे लोग वहाँ आ निकले थे। अनेक साधु-महात्माओं के उन्होंने दर्शन किये थे, बहुतों से धर्म-शिक्षा प्राप्त की थी, और न जाने कितने वेदान्तियों के उन्होंने भाषण सुने थे; किन्तु आज तक कहीं से भी उन्हें पूर्ण शान्ति-लाभ नहीं हुआ था, कोई भी उनके भ्रम को दूर करके सन्तुष्ट नहीं कर पाया था। वे लोग अपने अतृप्त हृदय की प्यास को बुझाना चाहते थे, किन्तु कोई पहुँचा हुआ गुरु ही न मिलता था। सौभाग्य से मोक्षधाम में आकर उन्हें अपनी इच्छा के पूर्ण होने की कुछ आशा हुई।

स्वामीजी ने एक दिन उपदेश दिया—"......सद्‌विचार रखने वालों को राग द्वेष का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये; किन्तु इन्हें छोड़ने के लिए पहले शुभ कर्मों का आचरण और अशुभ का त्याग करे। त्याग द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से साधक ईश्वरोपासना का अधिकारी हो जाता है। फिर उपासना करनी चाहिये। उपासना परिपक्व हो जाने पर आनन्द मिलता है। आनन्द के मिलने से राग-द्वेष जाता रहता है, और ईश्वर, जीव तथा जगत् का पूर्ण तथा यथार्थ ज्ञान हो जाता है, और तब वह विश्व की प्रत्येक वस्तु में अपने भगवान् को ही देखने लगता है।"

भाषण बहुत लम्बा होने पर भी वास्तविक ज्ञान और उपयोगी साधनों के निमित्त होने के कारण लोगों ने बड़े प्रेम और पूर्ण भक्ति से उसे सुना। बहुत से लोगों पर उसका प्रभाव भी अच्छा पड़ा। जो लोग भूल से अथवा अज्ञानता के कारण सत्पथ से भटक कर दुराचरण की ओर प्रवृत्त हो गये थे, वे भी उस दिन के भाषण से बहुत अंशों में अपने आचार और विचारों को सुधारने की भरसक चेष्टा करने [illegible] बल और प्रभाव का दुरुपयोग न करके बहुत से बड़े-बड़े

लोग भी उस दिन से नम्र और सदाचारी बन गये और दीन-दुखियों के प्रति उन लोगों की सहानुभूति बढ़ने लगी।

उसी दिन से वे गुजराती भी उनके अनन्य भक्त बन गये, और बहुत दिनों तक उनके आश्रम में रह कर उनसे ज्ञान प्राप्त करते रहे। एकान्त समय पाकर बीच-बीच में वे उनसे प्रश्न करके अपनी शंकाओं का समाधान भी कर लेते थे।

एक दिन गुजराती यात्रियों में से एक ने स्वामीजी से प्रश्न किया—"क्यों महाराज! भगवान् कैसे लोगों को दर्शन देते हैं?"

स्वामीजी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"यह विषय बड़ा रहस्यमय है। इसे बताने में बहुत समय और काफ़ी ज्ञान की आवश्यकता है। फिर भी जब तुमने प्रश्न ही किया है, तो इसका उत्तर न देकर मैं तुम्हें निराश नहीं करूँगा। संक्षेप में कहता हूँ, इसी से तुम्हारे प्रश्न का बहुत कुछ उत्तर मिल जायगा। बंगला में एक कहावत है 'जेमनि मन तेमनि भगवान्' अर्थात् जैसा मन होता है वैसा ही भगवान् होता है। भगवान् का स्वरूप भक्त की भावना के अनुकूल ही होता है। भगवान् को निष्कपट और सरल प्रकृति के मनुष्य बहुत प्रिय हैं। जो प्राणी निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, विक्षेप और संशय को त्याग कर मन, वचन, और कर्म से भगवत्स्मरण और उनकी भक्ति में पूर्णतया डूब जाता है उसी भाग्यशाली पर भगवान् की अत्यधिक प्रीति होती है। ऐसे ही व्यक्ति उन्हें शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं।"

दूसरे गुजराती ने पूछा—"शुरू-शुरू में हमें क्या करना चाहिये? भगवान् की ओर मन शीघ्र लग जावे इसका उपाय बताइये?"

वे बोले—"प्रथम ध्यान एवं मानस-पूजा का अभ्यास बढ़ा कर मन को स्थिर करने की चेष्टा करनी चाहिये। मन अधिक ठहरने से भगवान् में अनुराग उत्पन्न होता है। किन्तु पहले-पहल मन का ठहरना ज़रा कठिन होता है, इसलिये यदि मन न लगे तो मानसिक जप

करना चाहिये। भजन-कीर्तन करने से भी मन सहज ही में उस ओर आकर्षित हो जाता है। कुछ काल अभ्यास करने के पश्चात् थोड़ा-थोड़ा आनन्द आने लगता है, फिर कुछ समय तक अभ्यास दृढ़ हो जाने से अधिक ध्यान करने का उत्साह उत्पन्न हो जाता है। उसके बाद ध्यान की मात्रा अधिक हो जाने से चित्त भगवत्प्रेम में डूब जाता है। यही अवस्था साधन का पूर्ण पद है। इसी अवस्था को भगवत्साक्षात्कार समझना चाहिये। हमारे प्राचीन काल के ऋषि-मुनि, तपस्वियों और विद्वानों ने साक्षात्कार को भी तीन प्रकार का कहा है।"

प्रथम गुजराती ने पूछा—"वे तीन प्रकार के साक्षात्कार कौन-कौन से महाराज ?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया—"पहला—इष्टदेव का स्वप्न-दर्शन। दूसरा—प्रत्यक्ष दर्शन, और तीसरा साक्षात्कार है तल्लीनता। इनमें स्वप्नदर्शन अधम, प्रत्यक्ष दर्शन मध्यम और तल्लीनता को सर्वोत्तम माना गया है। तल्लीनता के प्राप्त होने के पश्चात् साधक जगत् को स्वप्नवत् देखने लगता है। उसके लिए संसार भर के सुख और दुख, दोनों ही तृणवत् हो जाते हैं। कोई विघ्न, किसी प्रकार की भी व्याधि उसे व्यापती नहीं है। जब तक ऐसा शुभ दिन प्राप्त न हो, तब तक अधिक से अधिक कष्ट सहन करके श्रद्धा और धैर्य के साथ भजन-साधन करना चाहिये। कितने ही साधक संसारी कर्म त्याग कर दिन-रात जप करते रहते हैं, परन्तु किसी प्रकार का कष्ट उपस्थित होने पर वे उसे सहन करने में असमर्थ हो जाते हैं, इसका कारण केवल ध्यान का अभाव है। इसलिये जप के साथ ध्यान, मानसपूजा और ईश्वर-प्रार्थना करना भी नितान्त आवश्यक है, नहीं तो बीच में विघ्न पड़ जाने का सदा ही भय बना रहता है।"

क्षण भर रुकने के उपरान्त वे पुनः बोले—"प्रति दिन नियत समय में अपने इष्टदेव को हृदय-सिंहासन पर विराजमान कर मानसिक द्वारा पूजा करनी चाहिये। पूजा के उपरान्त जप आरम्भ करना

चाहिये। नाम-जपने से सम्पूर्ण पापों का क्षय एवं समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। अन्य चिन्ताएँ त्याग कर यथासाध्य नाम-जाप करना ही मंगल है। साधक के लिये नाम-जाप, सद्ग्रन्थ-पाठ, पवित्रता और नियम-निष्ठा उसके भक्ति पथ में अग्रसर होने के लिये सहायक हैं। जैसे सम्पूर्ण नदियों का जल गंगाजी में मिल कर गंगा-रूप हो जाता है वैसे ही भगवान् को निवेदन करने से सम्पूर्ण पदार्थ पवित्र हो जाते हैं। भक्ति का मार्ग ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक सरल और सुमधुर है, किन्तु श्रद्धाहीन तर्कवादी मनुष्य के लिये दुर्लभ है। भक्त के लिये 'संसार नित्य है या अनित्य' यह विचार करना भी आवश्यक नहीं, क्यों कि उसे तो जो कुछ दिखलाई देता है वह सब लीलामय पुरुषोत्तम का ही लीला-स्थान है।"

एक गुजराती बीच में पूछ बैठा—"क्यों महाराजजी! वैराग्य किसे कहते हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया—"विषय पास में रहने पर भी उसमें राग न हो। इन्द्रियों के समीप विषय रहने पर भी उनके भोग में अरुचि होने को वैराग्य करते हैं। वैराग्य अपने घर में रहते हुए भी हो सकता है।"

उस गुजराती ने फिर पूछा—"भगवत्प्रेम और वैराग्य में परस्पर क्या सम्बन्ध है? इसके लिये वैराग्य की ज़रूरत है, या नहीं?"

स्वामीजी ने कहा—"भगवत्प्रेम होने से ही वैराग्य होगा, और वैराग्य होने से प्रेम बढ़ेगा। इसका परस्पर अन्योन्यभाव है, अविनाभाव सम्बन्ध है, अर्थात् वैराग्य के बिना प्रेम नहीं होता, और प्रेम के बिना वैराग्य नहीं होता।"

एक अन्य उपस्थित व्यक्ति ने पूछा—"महाराज! शिवतत्व क्या है, और लिङ्गोपासना का क्या रहस्य है?"

वे बोले—"हमारे विचार से शिवतत्व वही है जिसका वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् के इस मन्त्र में किया गया है—

सर्वाननशिरोग्रीवा सर्वभूतगुहाशयः
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥

लिङ्ग का अर्थ है प्रतीक अथवा चिह्न। शिवलिङ्ग पुरुष का प्रतीक है, और शक्ति प्रकृति का चिह्न है। पुरुष और प्रकृति का संयोग होने पर ही सृष्टि होती है। उपरोक्त श्लोक का अर्थ है—समस्त मुख, समस्त शिर और समस्त ग्रीवाएँ भगवान् शिव की ही हैं, वे सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित हैं और सर्वव्यापी हैं; अतः शिव सर्वगत हैं। यही इस श्लोक का मतलब है।"

उस व्यक्ति ने पूछा—"शिव की उपासना किन लोगों को करनी चाहिये? उससे क्या लाभ है?"

स्वामीजी ने कहा—"भगवान् शिव आशुतोष हैं। यों तो वे जिसकी जैसी इच्छा होती है, उसको तत्काल ही पूर्ण कर देते हैं परन्तु मुख्यतया मोक्ष और विद्या-प्राप्ति के इच्छुकों को शिवोपासन अधिक करनी चाहिये। मोक्ष-दाता देव मुख्यता भगवान् शङ्कर ही हैं। इसीलिये शिवपुरी काशी के विषय में 'काशीमरणान्मुक्तिः' ऐसा प्रसिद्ध है। यहाँ, इस पवित्र तीर्थ में आकर जो भी शरीर त्यागता है, उसकी मुक्ति हो जाती है। अन्य देवों अथवा अवतारों की पुरियों में निवास करने वालों के लिये उन्हीं लोकों की प्राप्ति शास्त्र में बतलाई है—कैवल्यमोक्ष की नहीं। देवादिदेव भगवान् शङ्कर में सभी प्रकार के गुण विद्यमान हैं। तनिक-सी भक्ति और श्रद्धा से शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं, और अपने भक्तों को उनकी इच्छा के अनुसार वरदान दे डालते हैं; परन्तु साथ ही क्रोधित हो जाने पर निमेष मात्र में ही संसार भर में प्रलय भी मचा देते हैं—फिर कोई भी शक्ति उन्हें रोक नहीं सकती। उन्हें रिझाने में भक्तों को अधिक परिश्रम भी नहीं करना पड़ता। समय-समय पर कुछ मन्द-बुद्धि भक्तों के द्वारा उन्हें स्वयं ही भी उठाने पड़ जाते हैं, किन्तु फिर भी वे उन्हें क्षमा कर देते

हैं। वे तो सीधे और सरल हैं, एक दम से। इसीलिये तो बहुत से लोग उन्हें 'भोले-बाबा' भी कहते हैं।"

"वास्तव में यही बात है।" कहते हुए सभी उपस्थित श्रोतागण स्वामीजी के मधुर भाषण पर खिलखिला कर हँस पड़े। इसके बाद स्वामीजी ने सब को पाकशाला के बरामदे में जाकर भोजन करने की आज्ञा दी।

स्वामीजी के उठते ही सब लोग उठ कर उनके पीछे-पीछे पाक-शाला की ओर चल दिये और हाथ-मुँह धोकर उन्हीं के सामने दो पंक्तियों में बैठ गये। रसोइयों ने भोजन परोस दिया, और सब के सब चुपचाप शान्त भाव से बैठ कर भोजन करने लगे। उस समय एक भी शब्द किसी के मुख से नहीं निकल रहा था।

छठा अध्याय

विश्वनाथजी के मन्दिर की सन्ध्या-समय की शोभा भी देखने ही योग्य होती है। शायद ही किसी अन्य मन्दिर में इतना जन समुदाय एकत्र होता होगा। अत्यधिक भीड़ के कारण लोगों को मन्दिर के भीतर प्रवेश करना तो दूर रहा, उसके द्वार पर खड़े होकर वहाँ की अपूर्व झाँकी को देख सकना भी कठिन हो जाता है। आरती के समय तो वहाँ की छटा ही निराली हो जाती है। जन-समुदाय इस बुरी तरह से उमड़ पड़ता है कि धक्के-मुक्के लगने भी आरम्भ हो जाते हैं; किन्तु इस पर भी लोग मानते नहीं हैं, एक-दूसरे के कंधों पर झुक कर आगे बढ़ने की चेष्टा करते ही रहते हैं।

उस समय प्रकाश के मारे मन्दिर जगमगा उठता है। बिजली के तीव्र प्रकाश में श्वेतवस्त्र-धारी पुरुषों के शुभ्र चेहरे स्पष्ट दिखलाई देने लगते हैं। उन्हीं के पास श्वेत, हरी, लाल, नीली, पीली, गुलाबी और धानी रंग की साड़िएँ पहिने हुए स्त्रियाँ दिखाई देती हैं। बहुतों को तो आरती का केवल बहाना ही होता है, जाते हैं वे अपने किसी दूसरे ही मनोरथ को पूरा करने के लिए।

एक दिन रात के समय जब कि आरती खत्म होने के बाद लोगों की भीड़ पलट कर मन्दिर के बाहर निकल रही थी, दो नवयुवतियाँ धक्के-मुक्के से बचती हुई जल्दी-जल्दी वहाँ से दूर निकल जाने की चेष्टा कर रही थीं। दोनों ही देखने में सुन्दर, सुशील और सुशिक्षित मालूम होती थीं। किन्तु दोनों के वस्त्रों में आकाश-पाताल का अन्तर था। एक ने हलके रंग की गुलाबी साड़ी और वैसा ही जम्पर पहिना हुआ था, किन्तु उसके साथवाली दूसरी युवती ने स्वच्छ सफ़ेद रंग की एक बिना किनारी की मोटी धोती पहिन रक्खी थी,

और वैसा ही सफ़ेद शेमीज़ पहिना हुआ था। देखने में दोनों ही सम-वयस्का मालूम होती थीं।

सड़क पर पहुँच कर भीड़ कुछ कम ज़रूर हो गई थी, फिर भी सड़क के ऊपर लोगों का ताँता इस समय भी लगा ही हुआ था। सभी अपनी-अपनी धुन में अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़े चले जा रहे थे। कोई अकेला जा रहा था, कोई दुकेला, और कोई-कोई अपने चार-चार पाँच-पाँच साथियों के साथ गप्पें हाँकता हुआ जा रहा था। हास-परिहास का रास्ते के ऊपर भी एक फ़व्वारा-सा छूट रहा था। वे दोनों युवतियाँ भी बातें करती हुई चली जा रही थीं।

एक ने अपने साथ वाली दूसरी युवती से कहा—"भई, मुझे तो यहाँ आना तनिक भी अच्छा नहीं लगता। देखो न, कितनी अधिक भीड़ इकट्ठा होती है मन्दिर में। तुम साथ में न होतीं, तो मैं आज आती भी नहीं, कुमुद!"

कुमुद ने अन्यमनस्कता के भाव से कहा—"मुझसे क्या कहती हो, सरोज! मैं तो स्वयं ही इतनी भीड़ में आना पसन्द नहीं करती। यदि बुआजी की आज्ञा न हो, तो मैं कभी भी यहाँ आने का नाम न लूँ। भगवान् शङ्कर की मैं पूजा करती हूँ, उन्हीं के लिये मुझे यहाँ आना पड़ता है, सो वे कोई ऐसे नहीं कि केवल इसी मन्दिर में बैठे रहते हों। वे तो सर्वव्यापक और घट-घट के वासी हैं। उनकी पूजा तो मैं घर में भी बैठ कर सकती हूँ, यहाँ आने की ज़रूरत ही क्या है?"

उनकी बात खत्म होते ही सहसा भीड़ से किसी के हँसने की आवाज़ सुनाई दी। सरोज और कुमुद का ध्यान तुरन्त ही उस ओर आकर्षित हो गया। दोनों ने पीछे घूम कर देखा, तो उन्हें मालूम पड़ा जैसे दो युवक कुछ फ़ासले से उन्हीं के पीछे-पीछे आ रहे हों। कुमुद को लगा, मानो वे दोनों उसी की बात पर हँसे हों; परन्तु वे थे कौन दोनों? दूर होने के कारण वे पहिचाने भी नहीं जा सकते थे। अस्तु,

कोई भी हों, उनसे दूर हट जाने के लिये वे दोनों जल्दी-जल्दी चलने लगीं।

आगे चल कर उन दोनों में फिर बातें होनी शुरू हो गईं। सरोज ने कहा—"कुमुद ! मुझे तो यहाँ आने की अपेक्षा मोक्षधाम में जाकर परमहंस बाबा के उपदेश सुनना कहीं अधिक अच्छा लगता है।"

कुमुद ने कुछ अनभिज्ञता के भाव से पूछा—"ये परमहंस बाबा कौन हैं, सरोज ?"

"अरे ! क्या तुम उन्हें अभी तक जानती भी नहीं हो ?" आश्चर्य से सरोज ने उसकी ओर देखते हुए पूछा, और तब स्वयं ही कहने लगी—"परमहंस बाबा वही तो हैं मोक्षधाम वाले स्वामीजी। सभी तो उन्हें जानते हैं। किसी से भी उनके सम्बन्ध में पूछ सकती हो, यहाँ का बच्चा-बच्चा उनसे भलीभाँति परिचित है। यों तो असली नाम उनका स्वामी आलोकानन्दजी है, परन्तु सम्मानित उपाधियाँ अनेक होने पर भी लोग प्रायः उन्हें 'परमहंसजी महाराज' कह कर ही बुलाते हैं। बड़े पहुँचेहुए ज्ञानी और पूरे वेदान्ती संन्यासी हैं।"

कुमुद ने कहा—"हाँ, नाम और प्रशंसा तो मैं भी अनेक बार सुन चुकी हूँ, बल्कि उस दिन बुआजी और तुम लोगों के साथ जाकर मैं उनका आश्रम भी देख आई थी। ओहो, कितनी भीड़ थी उस दिन वहाँ। मैं तो देख कर ही हैरान हो गई थी। यद्यपि पूरा आश्रम नहीं देख पाई थी उस दिन, किन्तु जो कुछ देखा था उसी से एक स्वर्गीय आनन्द का श्रोत उमड़ पड़ा था मेरे दिल में। कैसे-कैसे साधु-महात्मा आये हुए थे वहाँ ? दर्शनमात्र से ही हृदय में सद्भावनाओं का सञ्चार होने लगता था। जी चाहता था, हर समय उन्हीं लोगों की सेवा करती रहूँ।"

सरोज बोली—"वास्तव में वह स्थान है भी ऐसा ही। बड़ी दूर-दूर तक ऐसा आश्रम होना कठिन है। ज्ञान का आगार और शान्ति का भण्डार होने के साथ ही साथ, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी वह स्थान

अत्यन्त लाभदायक और प्राकृतिक दृश्यों से भरा हुआ बहुत रमणीक और मनोरम है। बाबूजी तो हर समय ही उन स्वामीजी के बारे में माताजी से बातें करते रहते हैं। दादा भी इन दिनों जब से कालेज से वकालत पास करके आये हैं, प्रायः नित्य ही संध्या समय वहाँ जा पहुँचते हैं। कहते थे, वहाँ का पुस्कालय भी बहुत अच्छा है।"

कुमुद ने कुछ खिन्न-चित्त से कहा—"पुस्तकालय के सम्बन्ध में तो मैं कुछ कह नहीं सकती, क्यों कि इतना पढ़ना-लिखना ही नहीं जानती। घर पर बुआजी ने ही हिन्दी की दो पुस्तकें मुझे पढ़ाई थीं, उन्हीं की सहायता से अब रामायण और सुखसागर कुछ-कुछ पढ़ लेती हूँ, इसलिये इस विषय में मुझे उतना ज्ञान नहीं है। मुझे तो उस दिन स्वामीजी और बाहर से आये हुए अन्य साधुओं के भाषण सुन कर ही सब से अधिक आनन्द प्राप्त हुआ था। भगवद्भक्ति और ईश्वरोपासना के ऊपर कैसी-कैसी बातें सुनाई थीं उन लोगों ने?"

सरोज ने कुछ मुस्कराते हुए कहा—"देख रही हूँ, एक दिन जाने से ही तुम्हारे ऊपर वहाँ का जादू चढ़ गया है।"

कुमुद ने उत्तर दिया—"जादू की बात नहीं है, सरोज! सच पूछो तो इन मन्दिरों में आकर लोगों के धक्के खाने की अपेक्षा, तो ऐसे आश्रम में जाकर भगवान् की कथा-वार्त्ता सुनना अधिक उपयोगी है।"

सरोज ने अपनी विद्वता दर्शाते हुए कहा—"अरे भाई! आज-कल कहीं भी आना-जाना ख़तरे से खाली नहीं कहा जा सकता। स्त्री-जाति की हर जगह ही आफ़त है। बाबूजी कहते थे, इस युग में हमारे पवित्र तीर्थ-स्थानों में ही अधिक पाप होने लगे हैं। पाखण्डी और दुराचारी लोगों ने जगह-जगह अपने अड्डे बना लिये हैं। पैसा कमाने के लिए वे लोग नित्य नई-नई तरकीबें निकालते रहते हैं। दादा ने जब से पुलिस के गुप्त-विभाग में काम करना शुरू किया है, तब से काशी के भीतर ही अनेक गुप्त अड्डों का उन्होंने पता लगा लिया है।"

कुमुद ने प्रसन्नता से कहा—"भगवान् उन्हें इस सत्कर्म का अवश्य ही कोई उचित फल देंगे। अभी तो शायद वे किसी बड़े अफ़सर के नीचे काम कर रहे हैं न? बुआजी से सुना था मैंने।"

सरोज ने कहा—"हाँ, अभी तो वे एक अफ़सर के नीचे रह कर ही काम सीख रहे हैं। यदि भोलानाथ बाबा की दया हुई तो आशा है, इसी वर्ष में उनकी उन्नति हो जायगी। सब कुछ ऊँचे अफ़सरों के हाथ में है।"

कुमुद ने कुछ कौतूहल से पूछा—"अच्छा, सरोज! यह तो बताओ अट्ठारह-बीस बरस तो उन्होंने बी० ए० पास करने में लगा दिये; फिर दो साल वकालत की डिग्री प्राप्त करने में लगे। इतना लम्बा समय और हज़ारों रुपये नष्ट करने पर यदि काम शुरू भी किया, तो एक अफ़सर के नीचे। इसके क्या मानी? उन्हें तो स्वयं ही एक अफ़सर बनना चाहिये था।"

सरोज ने हँस कर कहा—"यह भी अपने-अपने भाग्य की होती है। वास्तव में बात यह है कि कोई भी काम शुरू करने से पहले उसे सीख लेना ज़रूरी होता है। यदि वे चाहते, तो कचहरी में जाकर बड़े मज़े में अपनी वकालत का काम चालू कर सकते थे, किन्तु उन्हें शौक़ था जासूस बनने का, और इसीलिये उन्होंने सरकार के गुप्त-विभाग में नौकरी कर ली। दुनिया का कोई भी काम शौक़ से ही होता है। दादा की इच्छा के विरुद्ध बाबूजी ने भी कोई ऐतराज़ नहीं किया। परिणाम-स्वरूप अपनी इच्छा और बुद्धि से थोड़े समय में ही दुराचारियों के बड़े-बड़े गुप्त अड्डों का पता लगा कर उन्होंने बहुत शीघ्र ही इतनी उन्नति कर ली कि सभी उनसे खुश हो गये हैं।"

कुमुद ने उत्सुकता से पूछा—"अच्छा, मोक्षधाम के बारे में तुम्हारा क्या ख़्याल है?"

वह बोली—"मेरे अपने विचार तो वहाँ के लिये बहुत ही

उत्तम हैं। बाबूजी दादा के मुख से भी कभी वहाँ की कोई निन्दा नहीं सुनी। अन्दर की बात तो भगवान् ही जानें, मैं क्या कह सकती हूँ?"

उसने कहा—"परमात्मा करें, तुम्हारे ही विचार ठीक निकलें! यदि हमारे तीर्थों में सभी जगह पाप और पाखण्ड फैल जायगा, तो फिर पुण्य और धर्म के लिए स्थान ही कहाँ रह जायगा? कोई न कोई पुण्य-धाम ऐसा होना ही चाहिये जहाँ दो घड़ी बैठ कर भगवच्चिन्तन् और उनके पवित्र नाम का गुणानुवाद कर सकें।"

सरोज ने कहा—"हाँ, यह बात तो ठीक ही है। यदि हर जगह......ओफ़! शैतान कहीं के—अन्धे हैं बिलकुल......देख कर नहीं चलते।"

हठात् ही सरोज कहते-कहते बीच ही में चिल्ला पड़ी। कुमुद ने आश्चर्य-चकित हो बड़ी फुर्ती से उसे गिरते-गिरते अपने हाथों से सँभाल लिया। दूसरे क्षण ही उसने देखा, दो हृष्ट-पुष्ट नवयुवक जल्दी-जल्दी पाँव उठाते हुए उन्हीं से टकरा कर आगे निकल गये। उन्हीं दोनों की झपट से गिरते-गिरते सरोज बची थी।

बिजली के खम्भे के नीचे से जाते हुए उन दोनों युवकों को देखते ही कुमुद ने उन्हें तुरन्त पहिचान लिया। वे दोनों युवक वे ही थे, जो उनके पीछे लगे हुए बहुत दूर से उनके साथ-साथ चले आ रहे थे। यद्यपि उनकी पीठ इस समय उन दोनों की ओर थी, तो भी उनमें से एक के चेहरे की झलक कुमुद की दृष्टि में पड़ चुकी थी।

कुमुद को लगा, जैसे वे दोनों मन्दिर में आरती के समय भी उन्हीं के पास खड़े हुए उन्हें देख रहे थे। यह ध्यान आते ही कुमुद को डर-सा लगने लगा और सरोज को जल्दी चलने का संकेत करके वह भी जल्दी-जल्दी चलने लगी। घर अब अधिक दूर नहीं था, अतः शीघ्र ही वे दोनों वहाँ जा पहुँचीं।

दोनों युवक अभी तक दूर से खड़े हुए इन्हीं की ओर देख रहे थे। इन दोनों को दरवाजे के भीतर प्रवेश करते देख वे दोनों भी चल दिये वहाँ से। रास्ते में एक ने अपने साथी से कहा—"देखा, कैसा बढ़िया माल है! दोनों गजब की हैं।"

दूसरा बोला—"इसमें कोई सन्देह नहीं। अच्छा, मौका आने दो। देखा जायगा इन्हें भी।"

और इसके बाद वे दोनों जल्दी-जल्दी पैर उठाते गंगाजी के घाटों की तरफ़ चल दिये।

सातवाँ अध्याय

दूसरे दिन कुमुद अपनी बुआजी के साथ सरोज के घर गई। घर पड़ोस ही में आमने-सामने होने के कारण, वे लोग कभी भी एकत्र होकर आपस में बातें करनी शुरू कर देती थीं। सरोज के पिता अपने मोहल्ले में सब से ऊँचे और धनी व्यक्ति माने जाते थे। मान-सम्मान भी यथेष्ट प्राप्त था। दया, धर्म और परोपकार करने में वे कभी भी पीछे नहीं रहते थे, और इसीलिये जन-साधारण में वे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे। बुआजी के साथ उन्हें काफ़ी सहानुभूति थी। अनाथिनी, निस्सहाया कुमुद को वे उसी प्रकार स्नेह करते थे जैसे कि अपनी बेटी सरोज को।

उनकी दया से मोहल्ले भर के दीन-दुःखी और दरिद्र लोगों को किसी प्रकार का अभाव नहीं होता था। समय-समय पर हर प्रकार की सहायता लोगों को उनके द्वारा मिलती रहती थी। स्वभाव के सरल, बुद्धि के प्रखर और चरित्र के उज्ज्वल होने के कारण वे देवता-तुल्य समझे जाने लगे थे। भगवान् पर उन्हें पूर्ण भरोसा था। इसलिये अपने जीवन में उन्हें आशातीत सफलता और धन-सम्पत्ति प्राप्त हुई थी। हर प्रकार से वे सुखी थे।

ईश्वर की दया पर निर्भर रहने वाले प्रायः सुखी ही रहा करते हैं, उन्हें भी कोई अभाव नहीं था। अपार धन था, दूर-दूर तक ख्याति थी और फिर निःसन्तान भी नहीं थे वे। पुष्प की नवविकसित कली के समान एक कन्या और सत्यवादी, चरित्रवान् एवं परिश्रमी पुत्र के सौभाग्यवान पिता कहलाने के वे अधिकारी थे। एक लड़का और एक लड़की, इन दोनों से ही उनका घर चिड़िया-घर की तरह सदा चह-चहाता रहता था। दोनों ही सुन्दर, सुशील और सच्चरित्र थे। अपने

माता-पिता के समान ही उनका भी प्रशंसनीय स्वभाव था। दोनों ही एक दूसरे की आज्ञा मानने में कभी पीछे नहीं हटते थे।

सुरेश ने वकालत पास करके सरकार के गुप्त-विभाग में काम करना शुरू कर दिया था। यदि चाहता, तो सुरेश वकालत करके अथवा कुछ भी न करके केवल अपनी पैतृक सम्पत्ति की आमदनी से ही बड़े मज़े में अपना जीवन-निर्वाह कर सकता था, किन्तु रुपया कमाने की तो उसे विशेष चिन्ता ही नहीं थी; उसे तो अपना उद्देश्य पूरा करना था। काशी जैसे पवित्र तीर्थ-स्थान से दुराचारियों का चिह्न तक मिटा देने की उसे उत्कट अभिलाषा थी, और इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिये उसने जासूसी जैसा ख़तरनाक और घोर परिश्रम का काम करना सहर्ष स्वीकार कर लिया था।

उस दिन बुआजी के साथ कुमुद जब उसके मकान पर पहुँची, तो वह कहीं बाहर गया हुआ था। घर पर केवल उसकी माँ, सरोज और एक चौका-बासन करने वाली नौकरानी थी। पिताजी का अधिक समय तो अपनी बैठक में ही बीता करता था। अपनी विशाल अट्टालिका के आन्तरिक-कक्ष में उनका आना बहुत कम हुआ करता था। अट्टालिका दो बड़े भागों में विभक्त थी। बाह्य-कक्ष पुरुषों के लिये था, और आन्तरिक स्त्रियों के लिये। उसे बनाते समय प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों ही काल के कारीगरों के हस्त-कौशल देखे गये थे। इसीलिये वह अट्टालिका इतनी सुन्दर बनी हुई थी।

अट्टालिका के बीच में, आगे और पीछे दो बड़े-बड़े चौक बने हुए थे। पीछे वाला चौक स्त्रियों के बैठने के लिए और आगे वाला पुरुषों के लिए था। इन दोनों चौकों में सुन्दर और चौकोर पत्थरों का चिकना फ़र्श लगाया गया था। आगे वाले चौक में हर पूर्णमासी को श्रीसत्यनारायण की कथा और कीर्तन हुआ करता था। उस दिन वहाँ किसी को भी आने की मनाही नहीं थी। मोहल्ले भर के आबाल-स्त्री और पुरुष उस दिन वहाँ आकर भजन-कीर्तन किया करते

थे। इतना ही नहीं, धर्म-चर्चा होने के पश्चात् सामाजिक विषयों पर भी थोड़ा बहुत तर्क और वार्तालाप हुआ करता था, और इस प्रकार धार्मिक विषयों के साथ ही साथ सामाजिक कुरीतियों का भी सब लोगों को ज्ञान होता रहता था। अपने मोहल्ले के लोगों में परस्पर प्रेम और संगठन बढ़ाने के लिये यह तरीका बहुत ही उत्तम और सरल कहा जा सकता है।

सरोज की माँ बुआजी का यथेष्ट आदर-सत्कार किया करती थीं। एक तो वे आयु में भी उनसे बड़ी थीं, दूसरे विधवा और निस्सहाया होने के कारण भी उनकी सहानुभूति और बढ़ गई थी। मोहल्ले में सभी छोटे-बड़े उन्हें 'बुआजी' कह कर ही सम्बोधित किया करते थे। स्वभाव की कुछ कठोर होने पर भी, प्रकृति उनकी निष्कपट थी। पच्चीस वर्ष की आयु में उन्हें वैधव्य की दारुण और व्यथाजनक ठोकर लगी थी, किन्तु तब से वे इसी प्रकार एकान्त-जीवन व्यतीत कर रही थीं। यद्यपि सुन्दरी होने के कारण उन्हें उन दिनों यौवन के दिन पूरे करने में कुछ कम कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा था, किन्तु बड़े-बड़े तूफ़ान और यौवन का तीव्र ज्वार-भाटा आने पर भी वे अपने सङ्कल्प से तनिक भी विचलित नहीं हुईं। आत्म-संयम और इन्द्रियों का दमन करके वे अपनी जीवन-नौका को हर तूफ़ान से बचाती ही रहीं।

उन्हीं के आदर्श-जीवन का प्रभाव कुमुद के ऊपर भी पड़ा था। यद्यपि गंगा-स्नान करने और मन्दिर की आरती देखने वह प्रायः नित्य ही जाया करती थीं; तथापि इतनी स्वतन्त्रता मिलने पर भी वह कभी पथ-भ्रष्टा नहीं हो पाई, कभी भी उसके मन में कुत्सित विचारों का उदय नहीं हुआ था। वयस और यौवन का विकास होने के साथ साथ उसकी सद्भावनाओं और धार्मिक विचारों की भी वृद्धि होती चली गई। जब कभी उसके आगे कोई धर्म-संकट आकर पड़ा, तभी उसने अपने इष्टदेव भगवान् शङ्कर का ध्यान कर के सङ्कट

है आठ बजे के लगभग, और कल रात ये दोनों घर पहुँचीं पूरे साढ़े नौ बजे। कारण पूछने बैठी, तो सरोज के पिता ने उल्टा मुझे ही डाँटना शुरू कर दिया। वे ही तो बिगाड़ते हैं इन्हें "

उत्तर में सरोज कुछ कहने ही वाली थी कि इतने में एक वृद्ध महाशय ने कमरे में प्रवेश करते हुए कुछ बुदबुदा कर कहा—"जान पड़ता है, आज भवानीजी कोप कर रही हैं।" फिर आगे बढ़ कर पूछा—"किस पर बिगड़ रही हो ?"

वृद्ध महाशय के सिर और मूँछ के बाल सन की तरह सफ़ेद चमक रहे थे। आयु साठ के क़रीब पहुँच जाने पर भी स्वास्थ्य अभी बहुत अच्छा था। चेहरे पर दो-एक अस्पष्ट झुर्रियें पड़ जाने पर भी प्रतिभा-हीनता के कोई चिह्न दिखाई नहीं देते थे। गोल भरा हुआ रक्तपूर्ण मुख-मण्डल एक अपूर्व आभा और मन्द मुस्कराहट से चमक रहा था।

उन्हें देखते ही बुआजी कुछ सरक कर बैठ गईं। दोनों लड़कियों के ओठों पर हलकी मुस्कराहट दौड़ गई, मानो उनके आते ही बेचारियों के सिर से कोई बला टल गई हो, परन्तु सरोज की माँ कुछ तमक कर बोलीं—"ए लो ! आ पहुँचे ये भी ?"

वे उसी प्रकार हँसते हुए बोले—"मेरा आना ठीक नहीं हुआ क्या ? पूछता हूँ, तुम बिगड़ क्यों रही हो ?"

पूर्वोक्त ढंग से सरोज की माँ ने ठुमक कर कहा—"हुँहुँ ! समझाने की बात को भी ये मेरा बिगड़ना ही समझा करते हैं। कितनी बार कह चुकी हूँ, बच्चों को इतना मुँह नहीं लगाना चाहिये, आदत ख़राब हो जाती है। देख लिया न अपने लाड़ले सुरेश को। इतना धन खरच करके वकालत भी पास कराई, तो फिर भी नौकरी ही करने को तैयार है।"

सरोज के पिता ने अपनी ठोढी को खुजाते हुए कहा—"अरे, उसकी बात तो जाने दो, वह किसी की नौकरी थोड़े ही कर रहा है।

मेरी आज्ञा लेकर अपनी इच्छा के अनुसार वह जो भी कर रहा है, बिलकुल ठीक कर रहा है। धर्म और समाज की रक्षा के लिये ही वह ऐसा करने को बाध्य हुआ है। मुझे उसके कामों से बहुत प्रसन्नता प्राप्त हुई है।"

सुरेश के लिए फिर कोई बात न पाकर उसकी माँ ने सरोज की ओर घूम कर कहा—"और इसके लिए क्या कहते हो?"

वृद्ध ने स्नेह से हाथ सिर पर फेरते हुए सरोज से पूछा—"क्या हुआ, बेटी? बता तो सही!"

सरोज ने सरलता से उत्तर दिया—"कुछ नहीं, पिताजी! कल मन्दिर से आने में हमें देर हो गई थी, इसीलिये बिगड़ रही हैं।"

"ओह, बस इतनी-सी बात!" वृद्ध पिता ने कुछ क्षण चुप रहने के बाद पुनः कहना शुरू किया—"अच्छा, देखो सरोज! मन्दिर यहाँ से कुछ दूर पड़ता है और शाम के वक्त वहाँ भीड़ भी अधिक हो जाती है, इसलिये कल से तुम और कुमुद मन्दिर में न जाकर शाम के वक्त मोक्षधाम में जाया करो। वहाँ जाने से तुम्हारा ज्ञान भी बढ़ेगा और जल्दी भी आ जाया करोगी।"

आज्ञा देकर वृद्ध महाशय पुनः बाहर-कक्ष की ओर चले गये। कुमुद और सरोज मोक्षधाम जाने की बात को सुन कर मन ही मन खूब खुश हुईं। उनकी तो पहले से ही यह इच्छा थी। सरोज की माँ और बुआजी चुपचाप बैठी रह गईं।

है आठ बजे के लगभग, और कल रात ये दोनों घर पहुँचीं पूरे साढ़े नौ बजे। कारण पूछने बैठी, तो सरोज के पिता ने उल्टा मुझे ही डाँटना शुरू कर दिया। वे ही तो बिगाड़ते हैं इन्हें "

उत्तर में सरोज कुछ कहने हो वाली थी कि इतने में एक वृद्ध महाशय ने कमरे में प्रवेश करते हुए कुछ बुदबुदा कर कहा—"जान पड़ता है, आज भवानीजी कोप कर रही हैं।" फिर आगे बढ़ कर पूछा—"किस पर बिगड़ रही हो?"

वृद्ध महाशय के सिर और मूँछ के बाल सन की तरह सफ़ेद चमक रहे थे। आयु साठ के क़रीब पहुँच जाने पर भी स्वास्थ्य अभी बहुत अच्छा था। चेहरे पर दो-एक अस्पष्ट झुर्रियें पड़ जाने पर भी प्रतिभा-हीनता के कोई चिह्न दिखाई नहीं देते थे। गोल भरा हुआ रक्तपूर्ण मुख-मण्डल एक अपूर्व आभा और मन्द मुस्कराहट से चमक रहा था।

उन्हें देखते ही बुआजी कुछ सरक कर बैठ गईं। दोनों लड़कियों के ओठों पर हलकी मुस्कराहट दौड़ गई, मानो उनके आते ही बेचारियों के सिर से कोई बला टल गई हो, परन्तु सरोज की माँ कुछ तमक कर बोलीं—"ए लो! आ पहुँचे ये भी?"

वे उसी प्रकार हँसते हुए बोले—"मेरा आना ठीक नहीं हुआ क्या? पूछता हूँ, तुम बिगड़ क्यों रही हो?"

पूर्वोक्त ढंग से सरोज की माँ ने ठुमक कर कहा—"हुँहुँ! समझाने की बात को भी ये मेरा बिगड़ना ही समझा करते हैं। कितनो बार कह चुकी हूँ, बच्चों को इतना मुँह नहीं लगाना चाहिये, आदत ख़राब हो जाती है। देख लिया न अपने लाड़ले सुरेश को। इतना धन ख़रच करके वकालत भी पास कराई, तो फिर भी नौकरी ही करने को तैयार है।"

सरोज के पिता ने अपनी ठोढी को खुजाते हुए कहा—"अरे, उसकी बात तो जाने दो, वह किसी की नौकरी थोड़े ही कर रहा है।

मेरी आज्ञा लेकर अपनी इच्छा के अनुसार वह जो भी कर रहा है, बिलकुल ठीक कर रहा है। धर्म और समाज की रक्षा के लिये ही वह ऐसा करने को बाध्य हुआ है। मुझे उसके कामों से बहुत प्रसन्नता प्राप्त हुई है।"

सुरेश के लिए फिर कोई बात न पाकर उसकी माँ ने सरोज की ओर घूम कर कहा—"और इसके लिए क्या कहते हो ?"

वृद्ध ने स्नेह से हाथ सिर पर फेरते हुए सरोज से पूछा—"क्या हुआ, बेटी ? बता तो सही !"

सरोज ने सरलता से उत्तर दिया—"कुछ नहीं, पिताजी ! कल मन्दिर से आने में हमें देर हो गई थी, इसीलिये बिगड़ रही हैं।"

"ओह, बस इतनी-सी बात !" वृद्ध पिता ने कुछ क्षण चुप रहने के बाद पुनः कहना शुरू किया—"अच्छा ,देखो सरोज ! मन्दिर यहाँ से कुछ दूर पड़ता है और शाम के वक्त वहाँ भीड़ भी अधिक हो जाती है, इसलिये कल से तुम और कुमुद मन्दिर में न जाकर शाम के वक्त मोक्षधाम में जाया करो। वहाँ जाने से तुम्हारा ज्ञान भी बढ़ेगा और जल्दी भी आ जाया करोगी।"

आज्ञा देकर वृद्ध महाशय पुनः बाह्य-कक्ष की ओर चले गये। कुमुद और सरोज मोक्षधाम जाने की बात को सुन कर मन ही मन खूब खुश हुईं। उनकी तो पहले से ही यह इच्छा थी। सरोज की माँ और बुआजी चुपचाप बैठी रह गईं।

आठवाँ परिच्छेद

मोक्षधाम जन-समुदाय से खचाखच भरा हुआ था। स्वामीजी अपने मधुर कण्ठ से भाषण कर रहे थे :

"मनुष्य को चाहिये कि क्रोध करने वाले के प्रति क्रोध न करे, यदि कोई बुरा कहे, तो उससे प्रिय भाषण करे। निन्दा को सहन करे, और स्वयं किसी का अपमान न करे। चराचर को विचलित कर देने वाले प्रलंयकारी विस्फोट के होने पर भी जिसका चित्त क्षुब्ध नहीं होता वही महात्मा कहलाने का अधिकारी होता है। यदि सूर्य शीतल किरणों वाला हो जाये, चन्द्रमा तेजी से तपने लगे और अग्नि नीचे की ओर फैलने लगे, तो भी जीवन्मुक्त महात्मा को कोई आश्चर्य नहीं होता। महात्मा लोग स्वभाव से ही अत्यन्त निर्भीक होते हैं। उन्हें कोई भी चिन्ता नहीं व्याप सकती।

"क्रोध पाप का प्रधान कारण है। पापियों का चिह्न क्रोध है। इसलिये कभी भी किसी पर क्रोध नहीं करना चाहिये। जिसमें क्रोध है, चाहे वह कोई भी हो, उसे पापी ही समझना चाहिये। राग-द्वेष-मिश्रित क्रोध मनुष्य को उत्थान-प्रगति की ओर जाने से रोकता है। विशेषतया गुरुजनों और श्रेष्ठजनों के प्रति तो क्रोध कभी भी न करना चाहिये। जो क्रोध करता है, राग द्वेषमय जीवन बिताता है, वही उन्नति के सुनहले पथ पर चलने से वञ्चित रहता है। उद्दण्ड मन पर शासन करने की अत्यन्त आवश्यकता है। मन को काबू में रखने वाला शीघ्र उन्नति कर लेता है।"

कुछ क्षण रुक कर स्वामीजी ने फिर कहना आरम्भ किया—"प्रेम या भय के बिना वैराग्य नहीं होता। भय इस बात से होना चाहिये

कि ये सब वस्तुएँ भगवान् की हैं, इन्हें अपने काम में नहीं लाना चाहिये। इन वस्तुओं को अपनी समझ कर भोगना पाप है। इस प्रकार जब भगवान् की तरफ मन लग जायगा, तब विषयों में और विषयी लोगों में तुम्हारा मन नहीं लगेगा। भगवान् में प्रेम न होने से ही अन्य पदार्थों में मन जाता है। जब तक बड़प्पन का अभिमान रहेगा, तब तक प्रेम अथवा वैराग्य नहीं हो सकता। क्रोध न करने की दृढ़ प्रतिज्ञा करने से क्रोध का त्याग हो सकेगा, यदि किसी दिन अज्ञानतासे क्रोध आ भी जाय, तो उस दिन उपवास करना चाहिये।

"ईश्वर के साकार और निराकार—दोनों रूप एक ही हैं, कुछ भेद नहीं है। जैसे जल और उसकी तरंग, वस्तु एक है, किन्तु रूप दो हैं। बर्फ़ और पानी एक ही है, किन्तु देखने में दो मालूम होते हैं, बिलकुल इसी प्रकार ईश्वर साकार और निराकार है। वर्फ़ के हर एक अंश में जल है, कोई भी अंश जल से भिन्न नहीं है। जब वर्फ़ को सूर्य की गरमी लगती है, तो वह जलरूप हो जाता है। इसी प्रकार साकार ईश्वर ध्यानरूप सूर्य की गरमी से निराकार हो जाता है। इसके सिवा पानी में बिजली दौड़ती है; किन्तु उससे प्रकाश नहीं होता। आँखों से जो चीज दीखती है वह सब अग्निरूप है, पर रोटी का कच्चापन अथवा शीत केवल दीखने वाली चीज़ से दूर नहीं होता। जब चकमक-पत्थर से आग निकलती है, अथवा पानी से बिजली निकाली जाती है, तभी उनसे कोई कार्य सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रेमरूपी रगड़ से ईश्वर निराकार से साकार हो जाता है। वही साकार ईश्वर धर्मसंस्थापनादि कार्य करता है।

"भाइयो! भगवत्प्राप्ति के लिए शुद्ध मन से भगवन्नाम का स्मरण करना चाहिये। मन, वचन और कर्म से भगवान् की सेवा करना और उनके भक्तों का सत्संग करने से उद्देश्य में शीघ्र सफलता प्राप्त होती है। भगवान् का गुणानुवाद करना, भगवद्भक्तों की जीवनी

सुनना, भगवान् का ध्यान करना और उनके नाम का कीर्तन करते-करते तन-मन से उसी में लीन हो जाना ही भगवत्प्राप्ति का उपाय है। भगवद्भक्तों को मतमतान्तर के झगड़ों में पड़ कर एक-दूसरे पन्थ की निन्दा नहीं करनी चाहिये। कपट व्यवहार का सर्वथा त्याग करना चाहिए। प्रतिदिन कुछ समय के लिये एकान्तवास जरूर करना चाहिए। विषयी मनुष्यों से बचना चाहिए। विषय-चिन्तन की ओर मन को न जाने देना चाहिए, उनके संग से हर समय डरते रहना चाहिए। परनिन्दा और इन्द्रिय-लोलुपता को एकदम से त्याग देना चाहिए।

"भगवान् की दो शक्तियाँ हैं—एक माया और दूसरी भक्ति। दोनों शक्तियों में परस्पर विरोध है। जहाँ माया है, वहाँ भक्ति नहीं रहती। और जहाँ भक्ति है वहाँ माया का प्रवेश नहीं होता। भक्तों की अटल भक्ति के आगे माया का कोई वश नहीं चलता, वह सदा दुष्टों के हृदय में ही वास किया करती है। भक्तों का हृदय निर्मल और अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, इसीलिये वे अपने इष्टदेव के सिवा और किसी वस्तु का ध्यान नहीं करते। ऐसे ही भक्तों पर भगवान् की विशेष कृपा होती है। उन्हें आनन्दित करने के निमित्त आनन्दस्वरूप भगवान् उनकी भावना के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों में उन्हें दर्शन देते रहते हैं। जिस प्रकार भगवान् की लीला अपरम्पार है, इसी प्रकार उनके भक्तों की महिमा भी अवर्णनीय है। एक बार बोलो—भगवान् और उनके भक्तों की जय!"

भाषण समाप्त हुआ और भगवान् के साथ-साथ उनके भक्तों की जय-ध्वनि से वायु-मण्डल गूँज उठा। उपस्थित लोगों में से सभी ने मिल कर एक साथ जय-ध्वनि की। बड़े प्रेम और उत्साह से सब ने स्वामीजी के भाषण को श्रवण किया और प्रत्येक ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार उससे शिक्षा ग्रहण की।

इसके उपरान्त स्वामीजी ने कीर्तन करने की आज्ञा दी। कीर्तन के

प्रेमियों ने तत्क्षण करताल और मँजीरे सँभाल लिये। वे तो उस समय की मानो प्रतीक्षा ही कर रहे थे। कुछ लोगों ने पाँव में घूँघरू बाँध कर नाचना भी आरम्भ कर दिया। वाद्य-यन्त्रों से मधुर संगीत-लहरी निकलने लगी, और साथ-साथ लोगों का कण्ठ भी ऊँचा होने लगा।

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इसी महामन्त्र को कीर्तन में बार-बार दोहराया जाने लगा। एक ओर पुरुषों का ऊँचा कण्ठ, दूसरी ओर स्त्रियों का कोकिल के समान मधुर और बारीक स्वर—दोनों के सम्मिश्रण से वायुमण्डल गुंजरित हो उठा। धीरे-धीरे, फिर जल्दी-जल्दी, नीचा-ऊँचा और मध्यम स्वर वायु में मिल कर लहराता-सा जान पड़ने लगा।

कीर्तन में मस्त होकर कुछ लोग नाच रहे थे, कुछ बैठे-बैठे झूमने लगे थे, और कुछ वाद्य-यन्त्रों के बजाने में अपना हस्त-कौशल दिखा रहे थे। आनन्द और भक्ति का एक श्रोत सा उमड़ पड़ा था। क्षण भर के लिए लोगों के मन से संसार की समस्त चिन्ताएँ दूर हो गईं और वे मन्त्रमुग्ध हो उसी में तल्लीन हो गये।

विचित्र समाँ था। अपूर्व छटा थी। स्वर-लहरी का एक तार-सा बँध गया था। सभी का मन भगवद्भक्ति से झूम पड़ता था। कौन अभागा ऐसा होगा, जो ऐसे शुभ मुहूर्त्त में भी कुत्सित विचारों से अपने को विलग न करना चाहता होगा। भगवन्नाम का कीर्तन ही वास्तव में दुर्भावनाओं को हटाने का सर्वोत्तम उपाय है।

पूरा एक घण्टे तक कीर्तन होने के पश्चात् स्वामीजी की आज्ञानुसार सब अपने-अपने घरों को जाने लगे। स्त्रियों को रात के समय अधिक देर तक घर से बाहर नहीं रहना चाहिए, इस ख्याल से तो

बजे तक कीर्तन समाप्त कर देने का स्वामीजी का नियम था। वे जानते थे कि रात अधिक हो जाने पर स्त्रियों पर आपत्ति आने की सम्भावना है।

मोक्षधाम के मुख्यद्वार से थोड़ा हट कर एक ताड़ वृक्ष के नीचे दो मनुष्य खड़े हुए आपस में धीरे-धीरे कुछ बातें कर रहे थे। मालूम नहीं, उन दोनों को वहाँ खड़े हुए कितना समय बीत गया था। ऐसा जान पड़ता था जैसे कीर्तन समाप्त होने से पहले ही वे दोनों यहाँ आकर किसी की प्रतीक्षा करने लगे हों।

एक ने धीरे से फुसफुसा कर दूसरे से कहा—"कीर्तन तो ख़त्म हो गया, परन्तु वह...।"

दूसरे ने बीच में टोक कर कहा—"शायद भीड़ की वजह से इतनी देर हो रही है। घबराने की बात नहीं। इतनी जल्दी भी क्या है? जितनी रात अधिक बीतेगी उतना ही हमारे लिये अच्छा है।"

पहले ने पूछा—"देखा तो ठीक से था, पहिचानने में तो भूल नहीं हुई थी, न?"

दूसरा बोला—"नहीं जी, वही दोनों तो थीं कल रात वाली। पास में उनके एक तरफ़ हरे रंग की साड़ी पहिने काली-सी औरत बैठी हुई थी, दूसरी तरफ़ कोई मारवाड़िन-सी थी, और उनके पीछे मोटी-सी कोई बैठी हुई थी।"

वह बोला—"हाँ, देखा तो मैंने भी था, लेकिन दूर होने के कारण मैं ठीक से पहिचान नहीं सका। ख़ैर, देखा जायगा, भीड़ तो अब तक काफ़ी निकल चुकी है, आ जाना चाहिए था उन लोगों को भी।"

उसके साथी ने कहा—"भई, तुम ग़ज़ब के जल्दीबाज़ आदमी पड़ते हो। कुछ सबर से काम लो। इतनी भीड़ निकली, कोई

भी औरत देखी तुमने ? वे लोग तो भीड़ छँट जाने पर ही निकला करती हैं। यहाँ के स्वामीजी का नियम ही ऐसा है। पुरुषों के बीच में स्त्रियों को वे जाने ही नहीं देते।"

कुछ देर चुप रहने के बाद पहले ने अपने साथी से पूछा।—"अच्छा, इन्तज़ाम तो सब ठीक है न ?"

दूसरे ने जवाब दिया—"उसकी तुम चिन्ता न करो। मेरे काम में आज तक कभी भी कोई ग़लती नहीं निकाल सका है। इसी मोक्ष-धाम के पीछे हमारी नौका तैयार खड़ी हुई है। काम होते ही चल पड़ेंगे।"

इसके बाद वे दोनों चुप होकर फिर किसी का इन्तज़ार करने लगे। सहसा एक ओर से अंधकार को चीरती हुई टॉर्च की तेज़ रोशनी उन दोनों के चेहरों पर आकर पड़ी, और क्षण भर ठहरने के बाद अलोप हो गई। दोनों मनुष्य किसी अज्ञात भय से सिहर उठे; किन्तु उन्हें यह न मालूम हो सका कि रोशनी फेंकने वाला कौन व्यक्ति था। उन्होंने सोचा, किसी ने यों ही भूल से अथवा लोगों को अपनी टॉर्च दिखाने के ख्याल से उसका प्रयोग किया होगा। अब तक पुरुषों की भीड़ मुख्यद्वार से बिलकुल निकल चुकी थी, और अब स्त्रियों ने निकलना शुरू कर दिया था।

थोड़ी देर में उन्होंने देखा, एक लड़की बिना किनारी की सफ़ेद धोती पहिने मुख्य-द्वार से निकली और भीड़ से अपने आप को बचाती हुई जल्दी-जल्दी एक ओर को चल दी। लड़की घबराई हुई-सी जल्दी-जल्दी पैर उठाती हुई आगे जा रही थी। उसे देखते ही वे दोनों मनुष्य चुपचाप उसके पीछे लग गये। जान पड़ता था, वह लड़की अपने साथ वाली दूसरी लड़की से बिछुड़ जाने के कारण अत्यधिक घबरा गई थी, इसीलिये अपनी स्वाभाविक चाल से कहीं [illegible] तेज़ चलने के कारण उसके पैर कहीं से कहीं पड़ रहे थे

जल्दी पहुँचने के लिये वह पक्की सड़क छोड़ कर अंधकारपूर्ण पगडण्डी पर चलने लगी। यही उसने सब से बड़ी भूल की थी। कुछ ही दूर आगे गई होगी कि हठात् एक भारी कम्बल में किसी ने उसे बड़ी फुर्ती से लपेट लिया और उठा कर गंगा के किनारे खड़े हुए बजड़े में लाकर सावधानी से क़ैद कर दिया। यह सब काम उन्हीं दोनों मनुष्यों का था। पलक झपकते में बड़ी सफ़ाई और ग़ज़ब की फुर्ती से उन्होंने अपना काम बना लिया और अब उस बजड़े में बैठे हुए एक ओर को जा रहे थे।

नवाँ परिच्छेद

"कुमूदी ! कुमूदी ! ओ कुमुद दीदी ! मालूम नहीं कहाँ चली गई इतने में ?"

खोजती, बुदबुदाती और आवाज़ें देती हुई सरोज मोक्षधाम के मुख्य द्वार से वाहर निकली। वह हैरान थी कि कुमुद उसे छोड़ कर इतने में चली कहाँ गई। कीर्तन समाप्त होने के समय तक तो दोनों साथ ही थीं। वाद में दोनों ने स्वामीजी के हाथ से प्रसाद भी एक साथ लिया था। प्रसाद लेकर वह अन्य स्त्रियों के साथ पानी पीने के लिए कुएँ की तरफ़ चली गई थी। बस, इतनी ही देर में कुमुद न जाने किधर चली गई। थोड़ी गलती उस समय सरोज से भी अवश्य हुई। पानी पीने के लिये कुएँ की तरफ़ जाने से पहले उसे कुमुद को भी अपने साथ ले जाना चाहिये था, या कम से कम वता ही देती उसे। वह वेचारी तो प्रसाद लेने के लिए स्वामीजी के आगे हाथ पसारे खड़ी रह गई और इतनी देर में सरोज जा पहुँची कुएँ पर। उसका भी दोष नहीं, कीर्तन शुरू होने के पहले ही से प्यास के मारे उसका कण्ठ सूख रहा था।

दो-चार परिचित स्त्रियों के साथ पूछ-ताछ और वातें करती हुई वह अपने घर पहुँच गई। वहाँ सब से पहले उसने बुआजी के पास जाकर कुमुद के वारे में पूछा। वुआजी के मुख से कुमुद के न पहुँचने की वात को सुन कर वह और भी डर गई। विना कुछ कहे-सुने वह चुपचाप अपने घर चली आई। वुआजी कुमुद के वारे में पूछती ही रह गईं, परन्तु उसने कोई उत्तर नहीं दिया, और घर आकर एक कोने में मुँह लटकाये चुपचाप वैठ गई। उसकी माँ ने उसे आते हुए देख लिया था, किन्तु उसके इस प्रकार चुप रहने का कारण उनको

समझ में तनिक भी नहीं आया। सोचने लगीं—शायद कुमुद के साथ कुछ झगड़ा हो गया होगा, इसीलिये किसी से बोल नहीं रही है, गुस्सा ठण्ढा होने पर अपने आप आकर बोलने लगेगी। भोजन का समय भी निकला जा रहा था, इसलिये देर होने पर वे स्वयं ही उसके पास आकर पूछने लगीं—"क्या हुआ सरु ? आज भोजन नहीं करेगी क्या ?"

"करूँगी माँ !" बड़ी कठिनाई से उसके मुख से केवल इतना ही निकला। जान पड़ता था, वह ज़रा देर में रोने ही वाली थी। आँखों में अश्रु-बिन्दु छलक आये थे और हृदय का स्पन्दन बढ़ जाने के कारण श्वास-प्रश्वास जल्दी-जल्दी होने लगा था। उसकी माँ को सन्तुष्ट करने के लिए केवल 'करूँगी माँ !' कह देना ही काफ़ी न था। नियम के विरुद्ध कोई भी काम करने की उन्हें आदत नहीं थी। भोजन करने में सरोज इतना विलम्ब क्यों कर रही थी ? यही बात पूछने के लिये उन्होंने अपना मुख खोला था, कि इतने ही में बुआजी भी वहाँ आ पहुँचीं।

आते ही उन्होंने शीघ्रता से पूछा—"कुमुद आई है क्या ?"

यह प्रश्न उन्होंने सरोज की माँ से किया था; किन्तु जब उनकी दृष्टि बैठी हुई सरोज के ऊपर घूमी, तो उससे भी वही प्रश्न दोहराते हुए पूछा—"कुमुद आई है क्या, सरोज ? यहाँ तो कहीं वह दिखलाई नहीं देती।"

बुआजी के आने पर, तो सरोज और भी अधीर हो उठी। उसके धैर्य का बाँध टूट गया और वह बिलख-बिलख कर रोने लगी। संसार के उतार-चढ़ाव से बुआजी भली प्रकार परिचित थीं। न जाने कितने रंग-ढंग देख कर ही उन्होंने अपने बालों को सफ़ेद किया था। पचास-पचपन वर्ष की उस बुढ़िया ने परिस्थिति देख कर ही कुछ बातों का अनुमान लगा लिया, और दूसरे ही क्षण माथा ठोंक कर धम से ज़मीन पर बैठ गईं।

सरोज की माँ काफ़ी बुद्धि रखते हुए भी अभी तक दुनिया के दाँव-पेंचों को इतना नहीं जानती थीं। बुआजी और सरोज की यह दशा देख कर वे क्षण भर अवाक् रह गईं—आश्चर्य, दुःख और आत्म-ग्लानि से एक शब्द भी उनके मुख से नहीं निकल सका; किन्तु आखिर कब तक इसी अवस्था से काम चल सकता था। मूक-वेदना का कोई न कोई कारण तो होना ही चाहिये था न? साहस कर के सरोज से ही उन्होंने पूछा।

"क्या हुआ, सरोज? तुम लोगों की ऐसी दशा क्यों हो रही है? कुमुद तेरे साथ नहीं आई क्या?"

"नहीं।" इतना ही कहा और वह फिर सिसक-सिसक कर रोने लगी। उसे केवल कुमुद के खोये जाने का ही दुःख नहीं था, बल्कि साथ ही अपना अपमान होने का भी भय था। वह उसी के साथ तो वहाँ गई थी, फिर उससे अलग होने का क्या मतलब? उसके खोये जाने का सारा उत्तरदायित्व उसी के ऊपर तो था। साथ-साथ दोनों गई थीं, साथ ही साथ दोनों को आना भी चाहिये था। यही बात समझा कर उन्हें रोज घर से बाहर जाने की आज्ञा दी जाती थी। कुमुद को छोड़ कर आज सरोज अकेली क्यों आई थी? पूछा जाने पर इसका उत्तर वह क्या देगी, यही उसकी समझ में नहीं आ रहा था।

"नहीं" उत्तर पाकर सरोज की माँ का माथा ठनका, और वे भविष्य में किसी अमङ्गल के होने की कल्पना कर के एक अज्ञात आशंका से सिहर उठीं। फिर उद्वेलित मन को सुसंयत करके उन्होंने पूछा—"वह रह कहाँ गई, सरोज?"

सरोज अब तक काफ़ी सँभल चुकी थी, क्यों कि उसे मालूम था कि इस विषय में पूरे-पूरे प्रश्न उसके साथ किये जायँगे। यदि उत्तर देने में तनिक भी उससे भूल हुई, तो फिर अपनी माँ के द्वारा अपमानित और लाँछित, होने में तनिक भी उसे सन्देह नहीं था। माँ के

स्वभाव से वह भली-भाँति परिचित थी, और इसके लिए वह अब तक तैयार भी हो चुकी थी।

माँ के प्रश्न पर सतर्क हो कर उसने उत्तर दिया—"मोक्षधाम तो हम दोनों साथ ही साथ गई थीं, माँ! स्वामीजी का भाषण और कीर्तन भी एक साथ ही बैठ कर सुना था, किन्तु प्रसाद लेने के बाद से ही हम दोनों अलग हो गईं।"

"साथ रहते हुए भी कैसे अलग हो गईं तुम लोग? पूरी बात कह, तो ज़रा सुनूँ।" तीखेपन से उन्होंने कहा।

सरोज ने सत्य बात कह देना ही अधिक उचित समझा। डरते-डरते बोली—"मुझे प्यास बड़े ज़ोर की लग रही थी, इसलिये प्रसाद लेते ही मैं पानी पीने के लिये अन्य औरतों के साथ कुएँ की तरफ़ चली गई।"

"कुमुद क्यों नहीं गई तेरे साथ?" उसी प्रकार भृकुटि चढ़ाये हुए उन्होंने प्रश्न किया।

अब वह सचमुच बहुत डर गई थी। माँ के इस प्रश्न ने उसे आपाद-मस्तक भय से कम्पायमान कर दिया। इसी प्रश्न का उत्तर देना मानो उसके लिए दुनिया का सब से भारी काम था। कुमुद को कुएँ पर अपने साथ न ले जाकर बड़ी भारी भूल की थी उसने। न वह उसे वहाँ अकेली छोड़ती, और न यह सब काण्ड होता। ज़रा-सी होती हुई भी कितने ग़ज़ब की थी वह भूल। उसी बेचारी को क्या मालूम था कि इतनी-सी देर में ही यह सब गोलमाल हो जायगा।

सरोज को निरुत्तर देख, उसकी माँ कुछ बिगड़ कर बोलीं—"चुप क्यों हो गई, सरू? कुमुद भी क्यों न गई तेरे साथ ही कुएँ पर? तुम दोनों में कुछ झगड़ा हो गया था क्या? बोलती क्यों नहीं? सच्ची-सच्ची सब बातें बतला दे न।"

"लड़ाई-झगड़ा करने की तो हमारी आदत ही नहीं है, माँ!" नम्रतापूर्वक धीरे से उसने कहा और चुप हो गई।

असली वात वह इस वार भी छिपा गई थी। कहने का साहस ही नहीं हो रहा था उसे। बुआजी यद्यपि उसकी प्रत्येक वात को चुपचाप बैठी हुई सुन रही थीं, किन्तु अपनी ओर से उन्होंने एक भी वात अभी तक उससे नहीं पूछी थी। धैर्य धरना वे खूब जानती थीं, सारा जीवन धैर्य धरते हुए ही उनका बीता था। इस समय भी वे आत्म-संयम कर के एक दम से शान्त और गम्भीर बनी हुई बैठी थीं। उनके लिए मानो कुछ हुआ ही न था; परन्तु सरोज की माँ में यह वात नहीं थी। वे स्वभाव की सरल होने पर भी समय-समय पर अत्यन्त कठोर वन जाती थीं। मुख्यतः जब कि उनकी मान-मर्यादा का प्रश्न होता था, तव तो उनकी कठोरता और भी भीषण रूप धारण कर लेती थी।

अपने प्रश्न का अधूरा उत्तर पाकर सरोज की माँ का क्रोध द्विगुणित हो उठा। पूरी वात वताने में सरोज को इतना संकोच क्यों है? अवश्य ही इसमें इसका कोई अपराध है; नहीं तो क्यों नहीं पूरी वात वतला देती है यह?

मन में इसी प्रकार के वहुत से प्रश्न उठ-उठ कर उन्हें और भी परेशान करने लगे। एक वार प्रश्न कर के उसका ठीक-ठीक उत्तर पाने की आशा से उन्होंने पुनः सरोज से पूछा—"कुएँ पर भी तुम दोनों साथ ही साथ क्यों नहीं गई?"

बिना सही उत्तर दिये अपनी रक्षा होती न देख कर सरोज को बताना ही पड़ा। वह वोली—"वहुत देर से प्यास के मारे मैं वहुत व्याकुल हो रही थी, माँ! कुमुद से मैंने कुएँ पर चल कर पानी पीने के लिए कहा, तो वह वोली कीर्तन के बीच से उठ कर जाना ठीक नहीं, मैं भी चुपचाप बैठी रह गई। जव कीर्तन खत्म हुआ, तो मैंने फिर उसे कुएँ पर चलने के लिए कहा, तव वह वोली प्रसाद भी ले लें—खाकर पानी पियेंगे। जल्दी के मारे मैंने तो भीड़ में अपना प्रसाद ले लिया; परन्तु वह उस भीड़ में घुस नहीं

दसवाँ परिच्छेद

कृष्ण-पक्ष की रात्रि का अंधकार चारों ओर फैला हुआ था। अनन्त नीलाकाश पर बादल का कोई चिह्न न होने के कारण, छोटे-छोटे तारागण अपनी क्षीण ज्योति द्वारा उस पथिक को सहायता पहुँचाने की यथासाध्य चेष्टा कर रहे थे, जो इस समय, इतना घोर अंधकार छाया होने पर भी अनभ्यस्त पैरों से डगमगाता हुआ आगे बढ़ा जा रहा था। निर्जन-स्थान में, ऊबड़-खाबड़ पथरीली भूमि पर ठोकर लगने से अनेक बार वह गिरते-गिरते बचा था; किन्तु फिर भी उस पथिक ने अपना साहस नहीं खोया था। वह बराबर उसी चाल से चलता हुआ अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ता ही चला जा रहा था। जान पड़ता था, उसने जल्दी से जल्दी वहाँ पहुँचने का दृढ़-सङ्कल्प कर लिया था। कोई विघ्न, किसी प्रकार की भी बाधा उसे अपने सङ्कल्प से विमुख नहीं कर सकती थी। वह एक वीर पुरुष था, साहस और उत्साह की उसमें कोई कमी नहीं थी। अतएव ऐसे अवसरों पर वह भारी से भारी सङ्कटों का सामना करने को भी हर समय प्रस्तुत रहता था।

गंगा के किनारे से अब वह क्रमशः दूर होता जा रहा था। काशी उससे तीन-साढ़े तीन मील पीछे छूट गई थी। और वह अब मुगल-सराय की तरफ़ जाने वाली पक्की सड़क को पार कर के विस्तृत फैले हुए सूखे खेतों के बीच से चलने लगा था। वह चला जा रहा था अपनी धुन में, अपने उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त। उसे न तो इस समय किसी प्रकाश की ही आवश्यकता थी, और न किसी साथी की ही। वह बढ़ा चला जा रहा था उस पथ पर, केवल अपने आत्म-विश्वास के आधार पर। उसे अपनी ही शक्ति का भरोसा था, अपनी

। बुद्धि का सहारा था, और अपनी ही इच्छा से हर आने वाली
ापत्ति का सामना करने के लिये कटिबद्ध होकर वह बढ़ भी
हा था।

पथिक की तेज़ चाल सहसा धीमी पड़ने लगी। पक्की सड़क को
ार करने के बाद से अब तक वह खेतों ही खेतों में डेढ़-दो मील आगे
निकल गया था, किन्तु आश्चर्य था अब तक एक भी गाँव उसके
ामने अथवा पास से होकर नहीं निकला था। गाँव की बात तो दूर
ही, एक झोपड़ा भी कहीं दिखलाई नहीं दिया था। पथिक की तेज़
चाल, चलते-चलते क्यों सहसा धीमी पड़ गई थी? इसका भी एक
कारण था। दूर, कुछ फ़ासले पर अंधकार उसे कुछ और भी घने रूप
में दिखलाई देने लगा था। जान पड़ता था, या तो उस जगह कुछ
ऊँचे-ऊँचे वृक्षों का कोई बाग होगा अथवा किसी गाँव के प्रकाश-
विहीन झोपड़ों ने मिल कर उस अंधकारमयी रात्रि को और भी
भयानक बना दिया है। कोई भी कारण क्यों न हो, पथिक अब
पहले से कहीं अधिक सतर्क और सावधान हो कर अपने पाँव उठाने
लगा था। गाँव होने पर उसे भय था कि गाँव के कुत्ते प्रायः ऐसे अव-
सरों पर पथिकों का आदर-सत्कार करने में कभी भी पीछे नहीं हटा
करते, और इसीलिए वह विशेष सावधानी से आगे बढ़ने लगा।

पाँच-सात वृक्षों की छाया में पहुँचने के बाद ही पथिक को
मालूम हो गया कि सामने ही थोड़ी दूरी पर कच्चे-पक्के मकानों का
एक गाँव था। देर तक आहट लेने के बाद भी उसे उन मकानों से
किसी के बोलने का एक भी शब्द सुनाई नहीं दिया। न तो किसी
बच्चे के रोने का शब्द ही सुनाई देता था, और न किसी मनुष्य के
बोलने की आवाज़ ही कानों में आती थी। अजीब निःस्तब्धता छाई
हुई थी चारों ओर। गाँव में लोग प्रायः पशु पाला करते हैं; किन्तु
यहाँ तो कहीं कोई पशु भी दिखलाई नहीं देता। वैशाख का महीना
था, काशी जैसे स्थान में गरमी के कारण अधिकांश लोग इस महीने

में घरों से बाहर सोने लगते हैं; परन्तु यहाँ तो सर्वत्र ही एक सन्नाटा-सा छाया हुआ था। दूर से इतने घर जो बने हुए मालूम पड़ते थे, क्या वे सभी खाली पड़े हुए थे ? कैसा वीभत्स-दृश्य था ! साधारण प्रकृति का मनुष्य तो ऐसे भयानक और निर्जन-स्थान में जाने का कभी साहस ही नहीं कर सकता था। पथिक कहीं रास्ता भूल कर, तो इस तरफ़ नहीं आ भटका था ? भगवान् ही जानें, क्या बात थी।

एकाएक पथिक के सामने वाले घर की खिड़की में एक प्रकाश हुआ, और दूसरे ही क्षण अलोप हो गया। जान पड़ा जैसे उस घर के भीतर लालटेन लेकर बड़ी तेज़ी से कोई इधर से उधर निकल गया हो। खिड़की के भीतर उस क्षणिक प्रकाश में पथिक ने जिस मूर्ति की झलक देखी थी, उस से हठात् वह प्रसन्नता के आवेग में अपने स्थान पर खड़ा-खड़ा ही उछल पड़ा। सहसा उस पथिक के ओंठों से एक अस्पष्ट-सी ध्वनि निकली—'यही तो वह है', और इसके साथ ही वह हर्षातिरेक से झूमता हुआ धीरे-धीरे आगे की ओर बढ़ने लगा। उसके हृदय के भीतर उस समय एक द्वन्द्व-सा मचा हुआ था। जिस वस्तु को पाने की उसे उत्कट अभिलाषा थी, जिसके लिये परिश्रम कर के वह इतनी दूर तक मुसीबत उठाता हुआ आया था, और जिसे शीघ्र पाने की उसे इतनी आशा नहीं थी, उसी को क्षण भर पहले सामने वाले मकान के भीतर वह देख चुका था। जितनी खुशी उसे उस समय प्राप्त हुई थी, इतनी शायद जीवन में दो-चार बार ही उसे प्राप्त हुई होगी। पथिक का परिश्रम निष्फल नहीं हुआ, और इसीलिये उसके उत्साह में और भी वृद्धि हो गई।

इधर-उधर ग़ौर से देखता हुआ धीरे-धीरे पथिक उस मकान के पास जा पहुँचा। टोह लेने पर उसे ज्ञात हुआ कि पास-पड़ोस के अन्य मकानों में उस समय कोई भी नहीं था; यदि होगा भी तो बेख़बर पड़ा सो रहा होगा, इसीलिये इधर-उधर की टोह लेने के पश्चात् वह

पथिक निश्चिन्त होकर उस मकान के पीछे खिड़की से सट कर खड़ा हो गया और उस मकान के भीतर की टोह लेने लगा। खिड़की के पास, मकान के भीतर जलने वाली लालटेन का प्रकाश बहुत ही कम पहुँच रहा था। पथिक ने आहिस्ता से खिड़की के भीतर झाँक कर देखा, सामने वाली दीवार पर तीन बैठे हुए पुरुषों की छाया पड़ रही थी। जान पड़ता था, वे तीनों उसी मकान के भीतर पास वाले किसी दूसरे कमरे में बैठे हुए थे। लालटेन उनके दूसरी तरफ़ रक्खी होने के कारण उस कमरे की चौखट, मूढ़े पर बैठे हुए तीनों आदमी और पास में रक्खे हुए एक हुक्के की परछायीं स्पष्ट रूप से उस सामने वाली दीवार के ऊपर तिरछी होकर पड़ रही थी। यद्यपि उस मकान के भीतर वाले व्यक्तियों ने बाहर वालों की दृष्टि से बचने के लिये खिड़की के पास न बैठ कर काफ़ी बुद्धिमानी का काम किया था, तथापि प्रकाश-द्वारा दीवार पर पड़ी हुई अपनी परछाइयों की ओर उनमें से किसी का ध्यान नहीं गया।

वे लोग सतर्कतापूर्वक आपस में बहुत धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। पथिक भी बड़ी सावधानी से उसी ओर कान लगाये उन लोगों की बातों को सुनने की चेष्टा करने लगा। यद्यपि बातें बहुत आहिस्ता और गंभीरतापूर्वक कही जा रही थीं, तथापि मकान के दरवाज़े और खिड़कियाँ चारों ओर से बन्द होने के कारण उन लोगों की आवाज़ें मकान के भीतर कभी-कभी गूँज-सी जाती थीं। पथिक के कान उनकी बातों को समझने में बड़ी तेज़ी से काम कर रहे थे। बातें उसी के मतलब की हो रही थीं, इन्हीं बातों को वह सुनना भी चाहता था। इन्हें सुन कर वह अपना क्या मतलब सिद्ध करना चाहता था? यह बता देना अभी कठिन था। हाँ, उन लोगों की बातों को सुन कर पथिक की दिलचस्पी उन बातों में उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही थी, और वह अधिक से अधिक बातें उन लोगों से अल्प समय ही में जान लेना चाहता था। ऐसे निर्जन एवं भयानक स्थान में आकर

में घरों से बाहर सोने लगते हैं; परन्तु यहाँ तो सर्वत्र ही एक सन्नाटा-सा छाया हुआ था। दूर से इतने घर जो बने हुए मालूम पड़ते थे, क्या वे सभी खाली पड़े हुए थे? कैसा वीभत्स-दृश्य था! साधारण प्रकृति का मनुष्य तो ऐसे भयानक और निर्जन-स्थान में जाने का कभी साहस ही नहीं कर सकता था। पथिक कहीं रास्ता भूल कर, तो इस तरफ़ नहीं आ भटका था? भगवान् ही जानें, क्या बात थी।

एकाएक पथिक के सामने वाले घर की खिड़की में एक प्रकाश हुआ, और दूसरे ही क्षण अलोप हो गया। जान पड़ा जैसे उस घर के भीतर लालटेन लेकर बड़ी तेज़ी से कोई इधर से उधर निकल गया हो। खिड़की के भीतर उस क्षणिक प्रकाश में पथिक ने जिस मूर्ति की झलक देखी थी, उस से हठात् वह प्रसन्नता के आवेग में अपने स्थान पर खड़ा-खड़ा ही उछल पड़ा। सहसा उस पथिक के ओंठों से एक अस्पष्ट-सी ध्वनि निकली—'यही तो वह है', और इसके साथ ही वह हर्षातिरेक से झूमता हुआ धीरे-धीरे आगे की ओर बढ़ने लगा। उसके हृदय के भीतर उस समय एक द्वन्द्व-सा मचा हुआ था। जिस वस्तु को पाने की उसे उत्कट अभिलाषा थी, जिसके लिये परि-श्रम कर के वह इतनी दूर तक मुसीबत उठाता हुआ आया था, और जिसे शीघ्र पाने की उसे इतनी आशा नहीं थी, उसी को क्षण भर पहले सामने वाले मकान के भीतर वह देख चुका था। जितनी खुशी उसे उस समय प्राप्त हुई थी, इतनी शायद जीवन में दो-चार बार ही उसे प्राप्त हुई होगी। पथिक का परिश्रम निष्फल नहीं हुआ, और इसी-लिये उसके उत्साह में और भी वृद्धि हो गई।

इधर-उधर ग़ौर से देखता हुआ धीरे-धीरे पथिक उस मकान के पास जा पहुँचा। टोह लेने पर उसे ज्ञात हुआ कि पास-पड़ोस के अन्य मकानों में उस समय कोई भी नहीं था; यदि होगा भी तो बेख़बर पड़ा सो रहा होगा, इसीलिये इधर-उधर की टोह लेने के पश्चात् वह

पथिक निश्चिन्त होकर उस मकान के पीछे खिड़की से सट कर खड़ा हो गया और उस मकान के भीतर की टोह लेने लगा। खिड़की के पास, मकान के भीतर जलने वाली लालटेन का प्रकाश बहुत ही कम पहुँच रहा था। पथिक ने आहिस्ता से खिड़की के भीतर झाँक कर देखा, सामने वाली दीवार पर तीन बैठे हुए पुरुषों की छाया पड़ रही थी। जान पड़ता था, वे तीनों उसी मकान के भीतर पास वाले किसी दूसरे कमरे में बैठे हुए थे। लालटेन उनके दूसरी तरफ़ रक्खी होने के कारण उस कमरे की चौखट, मूढ़े पर बैठे हुए तीनों आदमी और पास में रक्खे हुए एक हुक्के की परछायीं स्पष्ट रूप से उस सामने वाली दीवार के ऊपर तिरछी होकर पड़ रही थी। यद्यपि उस मकान के भीतर वाले व्यक्तियों ने बाहर वालों की दृष्टि से बचने के लिये खिड़की के पास न बैठ कर काफ़ी बुद्धिमानी का काम किया था, तथापि प्रकाश-द्वारा दीवार पर पड़ी हुई अपनी परछाइयों की ओर उनमें से किसी का ध्यान नहीं गया।

वे लोग सतर्कतापूर्वक आपस में बहुत धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। पथिक भी बड़ी सावधानी से उसी ओर कान लगाये उन लोगों की बातों को सुनने की चेष्टा करने लगा। यद्यपि बातें बहुत आहिस्ता और गंभीरतापूर्वक कही जा रही थीं, तथापि मकान के दरवाज़े और खिड़कियाँ चारों ओर से बन्द होने के कारण उन लोगों की आवाज़ें मकान के भीतर कभी-कभी गूँज-सी जाती थीं। पथिक के कान उनकी बातों को समझने में बड़ी तेजी से काम कर रहे थे। बातें उसी के मतलब की हो रही थीं, इन्हीं बातों को वह सुनना भी चाहता था। इन्हें सुन कर वह अपना क्या मतलब सिद्ध करना चाहता था? यह पता देना अभी कठिन था। हाँ, उन लोगों की बातों को सुन कर पथिक की दिलचस्पी उन बातों में उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही थी, और वह अधिक से अधिक बातें उन लोगों से अल्प समय ही में जान लेना चाहता था। ऐसे निर्जन एवं भयानक स्थान में आकर

भी वह पथिक निर्भीकतापूर्वक अपना कार्य कर रहा था। वास्तव में अपूर्व था उसका पुरुषार्थ !

पथिक ने सुना, भीतर कोई अपनी बहादुरी की डींग मारता हुआ कह रहा था—"देखा, कैसा हाथ मारा ! काम का काम बन गया और किसी को कानों-कान पता भी न चल सका इसका। काम करने की सफ़ाई हो, तो ऐसी हो।"

दूसरे ने कहा—"इसमें सन्देह नहीं, काम बड़ी ही आसानी से हो गया। मुझे तो इसकी आशा भी नहीं थी, मगर दामोदर, हो भाई ग़ज़ब के फुर्तीले ! इतनी सफ़ाई से कम्बल डाला कि वह एक शब्द भी न निकाल सकी मुख से।"

दामोदर ने गर्व से गर्दन फुला कर कहा—"काम करने का आनन्द ही तब है जब कि ज़रा भी आँच न आने पाये अपने ऊपर। ऐसी सफ़ाई से काम न करें, तो फिर इतने रुपये कैसे कमायें ? ज़रा-सी सफ़ाई और थोड़े से परिश्रम से ही मार लिया न हाथ पूरे ढाई-तीन हज़ार पर ? इस बार का माल भी कोई मामूली नहीं है। इतने रुपये तो कोई भी आँख बन्द कर के दे जायगा। क्यों कालीचरन ! क्या ख्याल है तुम्हारा ? मैं ग़लत तो नहीं कह रहा हूँ ?"

कालीचरन ने हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा—"अजी वाह ! ग़लत कहने की इसमें क्या बात है ? माल भी तो हज़ारों में एक है। जो भी देखेगा, लट्टू हो जायगा, लट्टू ! ऐसी चीज़ें बार-बार थोड़े ही मिला करती हैं ? वह तो उस दिन मन्दिर में हम लोगों की नज़र उसके ऊपर जा पड़ी थी, नहीं तो कहाँ मिल सकती थी हमें ?"

तीसरा व्यक्ति जो अभी तक चुपचाप बैठा हुआ उन दोनों की बातें सुन रहा था, बीच में बोल पड़ा—"भई, हो तकदीर के सिकन्दर ! जिसके ऊपर नज़र डालते हो, फिर उसे कहीं का नहीं छोड़ते।"

दामोदर ने उसकी बात पर बिगड़ कर कहा—"यह तुम कैसे कह सकते हो जी, धीरेन्द्र! जिसके ऊपर हम लोग नज़र डालते हैं वह फिर कहीं का भी क्यों नहीं रह जाता? बल्कि यों कहो कि हम लोग तो उसका जीवन और सुधार देते हैं। आज वाली लड़की की ही बात लो, देखने में वह एक विधवा मालूम होती है। वहाँ रह कर समाज के बन्धनों में जकड़ी हुई बेचारी कितना दुःख और किस क़दर यन्त्रणाएँ भुगत रही थी। अब देखना, हमारी शरण में आकर वह कैसे-कैसे स्वर्गीय सुखों का उपभोग करती है। हम लोग किसी अच्छे धनी आदमी के साथ उसकी शादी करा देंगे, फिर सारे जीवन वह मज़ा ही मज़ा करेगी। क्यों, बताओ न? अब ठीक रहेगी या वह पहले ठीक थी उस नरक-कुण्ड में?"

धीरेन्द्र ने कुछ खिन्न-चित्त से कहा—"भई, तुम्हारी माया तो तुम्हीं लोग जान सकते हो। हाँ, एक तरह से तो वह ठीक ही रहेगी। सारा जीवन सुख में बीतेगा। लेकिन इसके लिए पहले उसकी अनुमति भी ले लेनी चाहिये।"

कालीचरन ने लापरवाही से कहा—"हुँह, अच्छी सलाह देते हो! हमें किसी की अनुमति लेने की ज़रूरत नहीं। यहाँ आकर तो सब को हमारी आज्ञा ही माननी पड़ती है, चाहे उसकी इच्छा हो, अथवा अनिच्छा।"

दामोदर ने भी एक व्यंग्यपूर्ण कटाक्ष करते हुए कहा—"अजी धीरेन्द्र बाबू! तुम्हें इन बातों से क्या लेना है? तुम तो अपनी चिट्ठी-पत्री का काम ही सँभाले रहो, और महीना पूरा होने पर अपनी तनख्वाह के पैसे गिन लिया करो, बस! और बातों के झगड़ों में पड़ कर व्यर्थ ही अपने दिमाग़ को क्यों खराब किया करते हो?"

धीरेन्द्र को उसकी बात कुछ चुभ-सी गई थी; किन्तु वह बोल कुछ भी न सका। बोलता भी कैसे? उसे तो एक बड़ी रक़म महीने

में देकर उन लोगों ने अपनी गुप्त चिट्ठियाँ लिखने के लिये नौकर रक्खा हुआ था।

थोड़ी देर बाद बातें करके वे लोग चुप हो गये। जान पड़ता था सब अपने सोने की तैयारी करने लगे हैं। अब उस पथिक ने भी वहाँ अधिक ठहरना उचित नहीं समझा और चुपचाप दबे पाँव वहाँ से घूम कर जिधर से आया था उसी तरफ़ को वापस चल दिया। उसके चेहरे से इस समय प्रसन्नता के भाव टपक रहे थे।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

"नहीं आया, अभी तक नहीं आया? मालूम नहीं कहाँ चला गया? भर पाई मैं ऐसे लड़के से!"

"क्या हुआ? हुआ क्या?" हड़बड़ा कर वृद्ध महाशय उठ कर अपने पलंग पर बैठ गये। उन्होंने देखा, पास में पड़े हुए दूसरे पलंग के ऊपर सरोज की माँ बड़ी बेचैनी से इधर-उधर करवटें बदल रही हैं। उनकी आँखें नींद के भार से फूल गईं-सी जान पड़ती थीं।

सामने टँगे हुए बड़े क्लॉक के 'टिक-टिक' शब्द ने वृद्ध महाशय का ध्यान तुरन्त ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया। देखा, छोटी सुई इस समय तीन पर—और बड़ी सुई बारह से खिसक कर पूरे छः पर जा पहुँची थी।

उन्होंने आश्चर्य से चमक कर पूछा—"एं! साढ़े तीन बज चुके हैं, और तुम अभी तक भी जाग रही हो!"

वृद्धा ने बनावटी क्रोध से कुछ ठुमक कर कहा—"जागूँ नहीं तो क्या करूँ? मेरा लाल, मेरी आँखों का तारा सुरेश, इतनी रात बीतने पर भी अभी तक घर वापस नहीं आया। तुम्हीं बताओ, नींद अभी कैसे आ सकती है?"

"क्या कहा? सुरेश घर पर नहीं आया?" विस्मय से उनके नेत्र और भी चौड़े हो गये और हथेली के ऊपर अपनी ठोढ़ी को रख कर किसी भारी चिन्ता में निमग्न हो गये। सरोज और सुरेश, यही दो तो उनके जीवन के सहारा थे। सुरेश के ऊपर ही उनके भविष्य की समस्त आशाएँ निर्भर थीं। वह कभी भी रात के समय अपने घर से बाहर नहीं रहता था। आज यह प्रथम अवसर था, इसीलिए वे इस समय कुछ विचलित हो उठे थे।

उन्हें चुप देख वृद्धा का पारा और भी ऊँचा चढ़ गया। मन की चंचलता स्वयं उन्हीं के लिये असह्य हो उठी, और वे उन्मत्त की भाँति बौखलाई-सी बोल पड़ीं—"तुम बहुत लापरवाह होते जा रहे हो। अपनी सन्तान की ओर तुम्हारा तनिक भी ध्यान नहीं है। भगवान् जाने, आज वह कहाँ होगा? न जाने सुरेश आज घर क्यों नहीं आया?"

और इसके बाद ही उन्होंने फूट-फूट कर रोना आरम्भ कर दिया। सुरेश को वे प्राणों से भी अधिक प्यार करती थीं। यों तो दोनों सन्तानें उनके लिये समान थीं; फिर भी सुरेश एकमात्र पुत्र होने के नाते माता-पिता की दृष्टि में अधिक चढ़ गया था। आश्चर्य की इसमें कोई बात भी नहीं थी। संसार का नियम ही ऐसा है—फिर सुरेश-जैसा आज्ञाकारी और सुशील लड़का भी तो बड़े भाग्य से किसी को मिलता है।

उन्हें रोती देख अपने सशंकित मन को सुसंयत करके वृद्ध ने कहा—"इतना अधीर होने की क्या बात है? हमारा सुरेश साहस और बुद्धि में किसी से कम नहीं है। वह आजकल जो काम कर रहा है, उसमें खतरा जरूर है, फिर भी डरने की वैसी कोई बात नहीं है। परम दयालु परमात्मा का स्मरण करो, वे ही सब की रक्षा और पालन करते हैं। दुःख और विपद् के समय उनसे बढ़ कर दुनिया में और कोई भी सहायता नहीं करता। आजकल इस भीषण युद्ध के कारण मालूम नहीं कितनी माताएँ अपने जवान-जवान बेटों के लिये रो रही होंगी, न जाने कितनी स्त्रियों की गोद सूनी पड़ी होगी। तुम्हारे लिए तो वैसे खतरे की कोई बात भी नहीं है, फिर तुम काहे को इतना व्याकुल हो रही हो? धैर्य धरो, आज नहीं तो कल आ ही जायगा।"

वृद्धा ने कुछ नरम पड़ कर कहा—"मेरा मन स्वभाव से ही कुछ अधिक दुर्बल है। जरा-सी बात में ही घबरा जाती हूँ। सुरेश के

बिना तो मैं एक क्षण भी नहीं रह सकती। यदि वश चले, तो दिन में भी मैं उसे कहीं न जाने दूँ। उसके पीछे सरोज को ही देख कर रहती हूँ। तुम क्या जानो माँ का हृदय कैसा होता है?"

मधुर हास्य की रेखा उनके अधरों के बीच नृत्य करने लगी, और वे कुछ सन्तुष्ट होकर बोले—"सो तो मैं सब जानता हूँ। तुम्हारी कोई भी बात मुझसे छिपी हुई नहीं है। वकालत पढ़ने के लिए उसे प्रयाग भेज दिया था, इतने ही में तुमने मेरे कान खा डाले थे। दो-दिन की छुट्टियों में भी तुम उसे यहाँ बुला लिया करती थीं, वह बात भी मैं भूला नहीं हूँ। सैकड़ों रुपये तो तुमने इसी प्रकार रेल-भाड़े में ही भेंट चढ़ा दिये।"

वृद्धा ने फिर कुछ मुँह फुला कर कहा—"तो क्या अब तुम उसकी शिकायत कर रहे हो?"

उन्होंने हँस कर उत्तर दिया—"शिकायत नहीं, बल्कि तुम्हारे पुत्र-स्नेह की प्रशंसा कर रहा हूँ।"

अपने पति के मुख से अपनी प्रशंसा सुन कर वृद्धा आनन्द से विभोर हो गई। झट उठ कर उनके पलंग के पास आ गई और बैठे हुए पति के पाँव को अपनी गोद में रख कर नरम हाथों से धीरे-धीरे उन्हें दबाने लगीं। पुत्र और पुत्री के स्नेह साथ-साथ पति-प्रेम का भी उनके हृदय में कोई अभाव नहीं था। संसार में और था भी कौन उनके लिये? सुरेश, सरोज और वृद्ध पति! इन्हीं तीनों की सूरत प्रतिक्षण उनकी दृष्टि के आगे घूमती रहती थी। अतुल धन-राशि होने पर भी उस ओर कभी उनका ध्यान नहीं गया था।

पाँव दबाते-दबाते उन्होंने कुछ सशंकित मन से कहा—"अच्छा, बताओ तो! वह गया कहाँ होगा आज?"

वृद्ध ने सरलता से उत्तर दिया—"काम-काज अधिक होने के कारण शायद अपने दफ्तर में ही रह गया होगा।"

वे बोलीं—"काम तो उसे प्रायः रोज़ ही अधिक रहा करता है, किन्तु रात के समय तो घर से बाहर कभी नहीं रहा। यह भी सम्भव नहीं कि बिना ख़बर दिये वह काशी से कहीं बाहर चला गया हो ?"

"फिर ?" प्रश्नसूचक दृष्टि से देखते हुए उन्होंने पूछा—"तुम्हारा क्या ख्याल है ?"

वे कुछ डरती-डरती-सी बोलीं—"एक सन्देह है मेरे मन में। यदि बुरा न मानो तो कहूँ ?"

वृद्ध ने उत्सुकता से पूछा—"हाँ, हाँ, कहो न। बुरा मानने की क्या बात है। कह डालो जल्दी से।"

उन्होंने कहा—"पहले वचन दो सुरेश पर नाराज़ तो नहीं होगे ? बात चाहे सत्य हो या मिथ्या, उसे तनिक भी कुछ कहना नहीं। मैं स्वयं भी निश्चित रूप से नहीं कह सकती। केवल सन्देह के आधार पर ही कह रही हूँ।"

वृद्ध महाशय की कुतुहलता और भी बढ़ गई। उन्होंने शीघ्रता से पूछा—"अरे, कुछ कहो भी ! तुम तो पहले ही प्रतिज्ञा कराने बैठ गई। थोड़ी देर के लिये मान लो, यदि बात कुछ वैसी हुई कि जिससे सुरेश के चरित्र में धब्बा लगता हो, अथवा उसका भविष्य अंधकारपूर्ण होने वाला हो, तो क्या उस दशा में भी मैं चुप ही रहूँगा ?"

बात ठीक कही थी उन्होंने। क्षण भर के लिये वृद्धा से भी कोई उत्तर देते बन न पड़ा; किन्तु पुत्र के स्नेह के कारण पहले वचन ले लेना ही उन्होंने अधिक उचित समझा। बार-बार हठ करने पर अन्त में वृद्ध महाशय को कहना ही पड़ा—"अच्छा, यदि बात कोई आपत्ति-जनक हुई, तो उस दशा में उसे समझाने की कोशिश की जायगी।"

"हाँ, यह तो हम दोनों का ही कर्तव्य है।" वृद्धा ने सन्तुष्ट हो कर कहना आरम्भ किया—"बात यह है कि पिछले कुछ दिनों से मैं

देख रही हूँ सुरेश और कुमुद की घनिष्ठता परस्पर बढ़ती ही जा रही थी। यद्यपि अभी तक मैंने एक भी बात ऐसी नहीं देखी है कि जिससे उन दोनों के निर्मल चरित्र पर किसी प्रकार का धब्बा लग सके, किन्तु फिर भी न जाने क्यों, मेरे मन में एक भ्रम-सा पैदा हो गया है। वही भ्रम आज और भी सन्देह के रूप में परिणत हो गया है। सुरेश कभी भी रात के समय घर से बाहर नहीं रहा है; किन्तु आज शाम जब से कुमुद गायब हुई है तभी से वह भी घर नहीं आया है। इसीलिये मेरे मन में अनेक प्रकार के सन्देह उठने लगे हैं।"

वे अपनी पत्नी के मुख से उपर्युक्त बात सुन कर बड़ी देर तक चुपचाप बैठे रहे। फिर कुछ सोच कर एक गहरी निःश्वास छोड़ते हुए बोले—"भगवान् इस संसार में किसी को भी सर्व प्रकार से सुखी और सन्तुष्ट नहीं रखना चाहते, कोई न कोई दुःख वे दे ही देते हैं। मेरे घर में लक्ष्मी के समान स्त्री है, पुत्र है, पुत्री है और इतनी विशाल धन-सम्पत्ति भी है। मैं समझा करता था कि दुनिया में मुझे कोई भी दुःख, और कोई भी अभाव नहीं है। सब से अधिक भाग्यवान और सब से अधिक सुखी मैं अपने आप को समझा करता था; किन्तु आज मालूम हुआ भगवान् का नियम अटल है, विधाता का विधान पलट नहीं सकता। जब कोई भी सब तरह से सुखी नहीं, तो मैं ही कैसे रह सकता हूँ।"

वृद्धा ने देखा, उसके पति का चेहरा दुःख और आत्म-ग्लानि से विवर्ण हो उठा था। अधिक क्षोभ न बढ़ जाये, इस ख्याल से उन्होंने अत्यन्त विनीत एवं सुमधुर कण्ठ से समझाने की चेष्टा करते हुए कहा—"कुमुद या सुरेश ऐसे मूर्ख नहीं हैं, जो यौवन की तरंग में आकर कोई काम ऐसा कर बैठें, जिससे मान-मर्यादा अथवा अपने वंश की ख्याति में धक्का लगे। मुझे अपने बेटे पर पूर्ण विश्वास है-

वह कोई भी ऐसा काम विना हमारी आज्ञा के नहीं करेगा। कुमु
भी ऐसी ही सुशीला और चरित्रवान लड़की है। हमें अभी
उनके विरुद्ध किसी दुर्भावना को अपने मन में स्थान नहीं दे
चाहिये। बहुत सम्भव है, मेरा यह भ्रम ही हो।"

"तुम्हारा सन्देह एक दम से निर्मूल नहीं कहा जा सकता।" वृ
ने गंभीरतापूर्वक कहा—"जैसे तुम्हें अपने बेटे और कुमुद के शुद्ध
चरण पर दृढ़ विश्वास है, वैसे ही मुझे भी अपनी पत्नी की बुद्धि
पर पूरा-पूरा भरोसा है। तुमने उन दोनों के पारस्परिक व्यवहारों क
लक्ष्य करने में तनिक भी भूल नहीं की है, यह मैं निश्चित रूप से
कह सकता हूँ। हाँ, यह मैं मानने को तैयार हूँ कि अभी उन लोगों क
आचार-व्यवहार विशुद्ध और कलङ्क-रहित ही होगा; किन्तु आगे
चल कर उसी व्यवहार में भारी परिवर्तन भी हो सकता है।"

पति की युक्ति पर आगे वे कुछ न बोल सकीं। देर तक दोनों ह
चुपचाप बैठे हुए कुछ सोचते रहे। सहसा किसी विचार ने वृद्धा को
बोलने के लिये मजबूर कर दिया। उनके पति सामाजिक नेता भी
थे, यह बात वह जानती थीं। पुरानी रूढ़ियों के भी वे अधिक पक्ष
पाती नहीं थे, यह भी उनसे छिपा नहीं था। यद्यपि उन्हें मालूम था
कि उनके पति कठोर स्वभाव के और अपनी आन पर मर-मिटने
वाले व्यक्तियों में से हैं, तथापि साहस कर के डरते-डरते उन्होंने
धीरे से पूछा—"क्या विधवा-विवाह करना पाप है?"

क्षण भर के लिये उनके चेहरे पर मधुर हास्य की एक क्षीण
रेखा-सी दौड़ गई; किन्तु दूसरे क्षण ही उनके वे भाव जाते रहे और
गंभीर शब्दों में उन्होंने उत्तर दिया—"विधवा-विवाह पाप है; किन्तु
जो बाल-विधवाएँ हैं, जिन्होंने अपने पति की सूरत तक न देखी हों—
मेरी दृष्टि में ऐसी नवयौवना लड़की का विवाह कर देना पाप
नहीं।"

वृद्धा ने आन्तरिक प्रसन्नता को छिपाते हुए कहा—"बेचारी कुमुद भी तो ऐसी ही विधवा है।"

क्षण भर सोचने के बाद वृद्ध ने कहा—"यह विषय साधारण नहीं है। इसका निर्णय करने के लिये कुछ समय अवश्य चाहिये। लड़की सुन्दरी, सुशील, सर्वगुण-सम्पन्न और कुलीन वंश की होते हुए भी मैं तुम्हें उसका विवाह सुरेश के साथ कर देने की शीघ्र आज्ञा नहीं दे दूँगा। ऐसे कामों में जल्दी करनी भी नहीं चाहिये।"

इसके बाद वृद्ध महाशय एक लोटा जल पीकर पुनः अपने पलंग पर लेट गये; और आशा-निराशा के झूले पर हिलोरें खाती हुई वृद्धा भी चुपचाप जाकर अपने बिछौने पर लेट गई।

बारहवाँ परिच्छेद

प्रेमीजन की लीला ही बड़ी विचित्र होती है। ठंढी आहें, पीला रंग, सजल नयन, प्रतीक्षा, बेचैनी, अतृप्ति, मितभाषण, मिताहार और नींद का न आना—ये प्रेमियों के नौ चिह्न हैं। उन्हें न रात में आराम मिलता है, और न दिन के समय ही किसी काम में उनका दिल लगता है। लोक-लज्जा अथवा मान-मर्यादा की तो वे ज़रा भी परवाह नहीं करते। दुनिया के लोगों से उनका सम्बन्ध ही एक प्रकार से विच्छेद हो जाता है। संसार में भले ही चारों ओर घोर अंधकार छा गया हो, किन्तु उसका हृदय प्रेम के आलोक से जगमगाता रहता है।

धीरेन्द्र ने जब से कुमुद को देखा है, तभी से वह अपनी समस्त इच्छाओं को उसी के ऊपर केन्द्रित कर चुका है। वश चलता, तो वह उसी दिन दामोदर और कालीचरन की क़ैद से उसे छुड़ा कर अपने क़ाबू में कर लेता; किन्तु ऐसा करना उसकी सामर्थ्य से बाहर की बात थी। वे दोनों कोई साधारण बुद्धि के आदमी नहीं थे। एक नम्बर के धूर्त और परले सिरे के चालाक होने के साथ-साथ हर काम को वे लोग सतर्कता और बड़ी सावधानी के साथ करते थे। धीरेन्द्र का उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं था; इसीलिए कोई भी उत्तरदायित्व का कार्य वे उसे नहीं सौंपते थे। भोली-भाली विधवाओं को और समाज के अत्याचारों से पीड़ित स्त्रियों को अपने चुँगल में फँसा कर वे अच्छे दामों में बेच दिया करते थे, और इसी से उन लोगों की जीविका चला करती थी।

दामोदर और कालीचरन को यद्यपि यह घृणित कार्य करते हुए बहुत समय व्यतीत हो चुका था, तथापि अभी तक किसी ने उन्हें पकड़ कर इसका उचित दण्ड नहीं दिलाया था। स्त्री-विक्रय करने में वे इतने होशियार थे कि किसी को कोई सन्देह तक उन पर नहीं होता था। बड़े-बड़े शहरों में उनके दलाल थे। घर बैठे-बैठे ही सब बातें चिट्ठियों-द्वारा तय हो जाती थीं। बाहर जाने की भी उन्हें ज़रूरत नहीं थी। दलाल अपने आप ही सब काम ठीक कर लिया करते थे। हज़ारों रुपये पैदा करने वाले व्यापारी होने पर भी दोनों पढ़ना-लिखना बिलकुल नहीं जानते थे। निरक्षर होने के कारण ही पत्र-व्यवहार करने के लिए उन्हें धीरेन्द्र जैसे लोभी युवक से सहायता लेनी पड़ती थी।

धीरेन्द्र को वे लोग इस काम के लिए प्रतिमास एक अच्छी रक़म वेतन के रूप में दे दिया करते थे। एकाकी जीवन होने के कारण उसके लिये वह रक़म काफ़ी ही नहीं, बल्कि बहुत अधिक कही जा सकती थी। उसकी पैतृक सम्पत्ति में से केवल वह उच्च अट्टालिका ही शेष बची थी। उसी में वह अकेला रहा करता था। इसी ने उस बड़ी अट्टालिका का नाम अपनी इच्छा से 'मित्र-सदन' रख दिया था। पथ-भ्रष्ट, चरित्र-हीन मित्रों की भी उसे कोई कमी नहीं थी। खाने-पीने वाले उड़ाऊ मित्रों का प्रायः हर समय ही उसके घर पर एक अड्डा-सा रहता था। यद्यपि धीरेन्द्र भी अपने मित्रों के समान ही स्वच्छन्द रूप से चरित्र-हीनता की प्रतिमूर्त्ति बन चुका था, तथापि उसके मन में कभी-कभी उन सब कामों से भारी घृणा और एक लज्जा-सी लगने लगती थी।

कुमुद को उड़ाने के बाद दूसरे दिन दामोदर ने धीरेन्द्र को बुला कर कहा—"आज तीन चिट्ठियाँ लिखनी हैं। एक कानपुर को और दो

लाहौर को। नये माल के लिये बातचीत शुरू कर दो। मूल्य पूरा दो हज़ार होगा।"

धीरेन्द्र ने आश्चर्य से कहा—"दो हज़ार! इतनी रक़म कौन दे देगा? पागल तो नहीं हो गये?"

दामोदर ने कड़क कर कहा—"चुप रहो जी! फ़ालतू बात करने की तुम्हें ज़रूरत नहीं। हम जो कहते हैं उसे मानना तुम्हारा कर्तव्य है। बीच में टाँग अड़ा कर तुम बेकार ही समय को नष्ट क्यों करते हो?"

क्षुब्ध, विक्षिप्त-सा होकर धीरेन्द्र चुपचाप चिट्ठी लिखने बैठ गया, और बड़ी देर में तीनों चिट्ठियाँ लिख कर प्रत्येक की एक-एक नक़ल भी तैयार कर ली। दामोदर उसे चिट्ठी लिखने की आज्ञा देकर कहीं बाहर चला गया था। पूरे दो घण्टे बाद उसके पास वापस आया और चिट्ठियाँ सुनने के लिए उसी के पास बैठ गया। धीरेन्द्र चिट्ठियाँ सुनाने लगा—

श्रीमान सेठ जी,

सप्रेम नमस्ते!

बहुत दिन हुए आपकी एक चिट्ठी आई थी, जिसमें आपने हमें एक सुन्दर लड़की तलाश कर रखने की आज्ञा दी थी। उस समय समयाभाव के कारण हम आप को शीघ्र उत्तर नहीं दे सके थे, दूसरे, माल भी कोई अच्छा तैयार नहीं था। अब हमारे पास एक बहुत ही सुन्दर, सुशील और पढ़ी लिखी लड़की तैयार है, जो कि हर तरह से आप के ही योग्य है। इस अवसर को आप हाथ से न जाने दें। ऐसा मौक़ा बार-बार हाथ नहीं आया करता। तुरन्त चिट्ठी पाते ही दो हज़ार रुपया लेकर शम्भू के साथ यहाँ चले आयें। ग्राहक और तैयार हैं, इसलिए विलम्ब करने से कोई लाभ नहीं। पहला मौक़ा

हम आप को ही देना चाहते हैं; किन्तु ध्यान रक्खें, दो हज़ार से एक पाई भी कम नहीं होंगे।

भवदीय,
कालीचरन दामोदरदास

पुनश्च—हमें यह जान कर दुःख हुआ कि प्रथम विवाहिता-स्त्री का स्वर्गवास होने के बाद आपने जो दूसरा विवाह हमारी मार्फ़त किया था, उस स्त्री का भी अकस्मात ही देहान्त हो गया। क्या किया जाय? ईश्वर की इच्छा के आगे किसी का कुछ वश नहीं चलता। हमें पूर्ण विश्वास है कि इस नये विवाह से आप पूर्ण सन्तुष्ट हो जायँगे। बहुत सुन्दर लड़की है, सीधी-सादी और गुणवती भी है—देखते ही आप फड़क उठेंगे। यदि किसी कारणवश आप शीघ्र न आ सकें, तो दो हज़ार की पूरी रक़म देकर शम्भू को तुरन्त भेज दें। वह हमारा ही विश्वस्त आदमी है। रुपये लेकर लड़की को उसीके साथ आपके पास भेज देंगे।

आपके अभिन्न,
कालीचरन दामोदरदास

चिट्ठी सुन कर दामोदर बहुत खुश हुआ और अपनी बग़ल में बैठे हुए कालीचरन की ओर घूम कर कहने लगा—"वाह! खूब बना कर लिखा है। ग्राहक के साथ सहानुभूति भी ऐसी ही होनी चाहिये।"

कालीचरन ने भी उसी ढंग से अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"भई, इसी गुण के कारण तो धीरेन्द्र बाबू हमारे यहाँ डटे हुए हैं, नहीं तो और ये हमारे किस काम आ सकते हैं?"

दामोदर ने पूछा—"दो चिट्ठियाँ और किस-किस के नाम लिख डालीं? ज़रा उन्हें भी सुना दो।"

धीरेन्द्र ने जवाब दिया—"एक शम्भू को और दूसरी लाहौर के सेठ फग्गामल को "

दामोदर के कहने से धीरेन्द्र ने उन दोनों चिट्ठियों को भी पढ़ कर सुना दिया। सेठ फग्गामल की चिट्ठी में तो वे प्रायः ही सब बातें लिखी गई थीं, जैसा कि ऊपर वाली चिट्ठी में लिखा था, केवल शम्भू की चिट्ठी में थोड़ा-सा फ़र्क था। उसमें उसे पूरी बातें समझा कर एक प्रकार का आदेश दिया गया था कि जैसे भी हो, ऊपर वाले सेठ को तैयार कर के जल्दी से जल्दी अपने साथ लेकर चला आवे, और आते वक्त दो हज़ार की पूरी रक़म भी अपने साथ लाना न भूले। इसके सिवा दो-चार और भी आवश्यक बातें उसकी चिट्ठी में लिखी गई थीं।

शम्भू इन लोगों का दलाल था। सेठ कालीचरन और दामोदरदास के व्यापार को इतना उन्नत करने वाला एकमात्र शम्भू ही था। अपनी विलक्षण बुद्धि और कार्यकुशलता के कारण वह शीघ्र ही बड़े-बड़े सेठों को अपनी मुट्ठी में कर लिया करता था। देखने में भोला-भाला, किन्तु अन्दर से चालाकी और धूर्तता में एक नम्बर का उस्ताद था। एक बार किसी मामले में तीन बरस की जेल हो गई थी, दूसरी बार वहाँ से छूटने पर डकैती के मामले में सात बरस के लिये फिर जेल भेज दिया गया था। इस बार छूटने के बाद काशी से बाहर रह कर गुप्त रूप से वह यह काम करने लगा था।

जेल से छूटने के बाद ही दामोदर और कालीचरन के साथ उसका परिचय हुआ था। धूर्त्त धूर्त्त को और भला आदमी भले को इस दुनिया में शीघ्र पहिचान लेता है। उन लोगों ने भी एक-दूसरे को पहिचानने में तनिक भी भूल नहीं की। बातबात में मित्रता हो गई, और देखते-देखते शम्भू ने इन लोगों के लिये अच्छे-अच्छे ग्राहक

पटाने का काम शीघ्र ही स्वीकार कर लिया। इसमें उसी का लाभ था। एक जगह रहने पर उसे फिर पकड़े जाने का डर था, इसलिए घूम-फिर कर ग्राहक ढूँढ़ने का काम ही उसने अधिक पसन्द किया। रेल-भाड़े के सिवा उसे एक ग्राहक के पीछे सौ-दो सौ रुपया कमीशन भी दिया जाता था। यही बहुत था उसके लिये।

इस बार का माल बिक जाने पर पूरे चार सौ रुपया उसे देने का लोभ दिया गया था; किन्तु साथ ही यह शर्त भी थी कि यदि एक सप्ताह के भीतर वह दो हजार का कोई ग्राहक लेकर उनके पास न पहुँच सका, तो उस दशा में उसे कोई कमीशन नहीं दिया जायगा। कमीशन पाने का अधिकारी वह उसी दशा में हो सकता था, जब कि ग्राहक उसी की मार्फ़त उनके पास आये, अन्यथा नहीं। बात क़ायदे की थी। दलाली करने वाले महाशय इस बात को भली प्रकार समझ सकते हैं। और लोगों का इन बातों से क्या सम्बन्ध? दलाली भी कितनी ही तरह की होती है।

तीनों चिट्ठियों पर धीरेन्द्र ने दामोदर और कालीचरन के हस्ताक्षर ले लिये। टेढ़े-मेढ़े, मोटे-मोटे अक्षरों में दोनों ने बड़ी देर के बाद जैसे-तैसे अपने हस्ताक्षर बना तो दिये, किन्तु इससे धीरेन्द्र को तसल्ली न हुई, क्यों कि अभी थोड़े ही समय से वे दोनों उसी से अपना नाम लिखना सीखने लगे थे। और दिन तो वह उन्हीं हस्ताक्षरों को करा कर चिट्ठियाँ भेज दिया करता था, परन्तु आज न जाने क्या सोच कर उसने दोनों के बायें हाथ के अँगूठों के चिह्न ले लेना भी जरूरी समझा। बाद में उसके ऊपर कोई बात न आये, शायद इसीलिये ऐसा किया हो।

पहले तो दामोदर और कालीचरन ने अँगूठा लगाना जरूरी न समझ कर उसे टाल देना चाहा, परन्तु जब धीरेन्द्र ने इधर

बहुत-सी ऊँच-नीच की बातें उन्हें समझाईं, तो अन्त में दोनों को हार कर अपने अँगूठों के चिह्न लगाने ही पड़े। तीनों चिट्ठियों पर अँगूठे लगा कर उन्हीं के सामने तीनों को लिफ़ाफ़े में रख दिया गया, और दामोदर के कहने से उसी समय धीरेन्द्र उन्हें डाक में छोड़ने के लिये डाकखाने चला गया। तीनों चिट्ठियों की नक़लें तीन लिफ़ाफ़ों में रक्खी हुईं उसी की जेब में पड़ी थीं। डाकघर पहुँचने पर धीरेन्द्र ने उन्हीं तीन नक़लों के लिफ़ाफ़ों को डाक में छोड़ दिया, असली चिट्ठियाँ ग़लती से या जल्दी के कारण उसकी जेब में ही धरी रह गईं।

तेरहवाँ परिच्छेद

वापस आने पर सुरेश को अपने घर का वातावरण ही कुछ बदला हुआ-सा दिखलाई दिया। प्रत्येक के चेहरे पर एक उदासीनता-सी छाई हुई थी। कमरे में प्रवेश करते ही सब से पहले उसकी दृष्टि अपनी वृद्धा माँ पर पड़ी; किन्तु वही माँ, जो और दिन ज़रा-सी देर हो जाने पर प्रश्नों की झड़ी लगा देती थीं, आज उसे देख कर भी कुछ नहीं बोली थीं, बल्कि उसकी तरफ़ से पीठ फेर कर दूसरी ओर बैठ गई थीं। उनकी यह दशा देख कर वह भी कुछ नहीं बोला, और वहाँ से जाकर चुपचाप अपने पढ़ने के कमरे में चला गया। उसने अनुमान लगा लिया था कि रात की अनुपस्थिति के कारण ही सब के माथों पर बल पड़ गये हैं। समय आने पर ठीक-ठीक उत्तर देने के लिए वह सावधान हो कर अपने कमरे में बैठ गया, और सरोज के आने का इन्तज़ार करने लगा। उसी से पूछने पर सब बातों का ठीक-ठीक पता उसे लग सकता था।

थोड़ी देर में चौका-बासन करने वाली दासी उसके कमरे के सामने से निकली। उसे देखते ही सुरेश ने आवाज़ देकर उसे अपने पास बुलाया। दासी आवाज़ सुनते ही चौंक पड़ी। सुरेश के कमरे में किसी के होने की उसे आशा ही नहीं थी। सुरेश के पुकारते ही वह तुरन्त ही उसके पास चली गई और दरवाजे पर खड़ी होकर पूछने लगी—"सुरेश दादा! रात कहाँ चले गये थे? माँ और दीदी बहुत रात तक बैठ कर तुम्हारी बाट देखती रहीं।"

सुरेश ने संक्षेप में उत्तर देकर पूछा—"रात कुछ ज़रूरी काम की वजह से नहीं आ सका था। सरोज कहाँ है?"

"अपने कमरे में होंगी।" उत्तर देते हुए उसने पूछा—"दीदी को भेज दूँ क्या ?"

सुरेश बोला—"हाँ, कुछ ख़ास काम न करती हो, तो जाकर ज़रा भेज दो।"

दासी के जाने के थोड़ी देर बाद सरोज वहाँ आ गई और सुरेश के पास पहुँचने पर उसने भी वही प्रश्न किया, जो कुछ देर पहले दासी ने किया था। वह बोली—"कहाँ चले गये थे, दादा ! सब लोग चिन्तित थे।"

सुरेश ने कहा—"रात में मुझे एक जरूरी काम पड़ गया था, इसीलिए नहीं आ सका। पिताजी कहाँ हैं ? माँ को तो मैं देख चुका हूँ, बाहर वाले कमरे में बैठी हुई हैं, लेकिन आज कुछ नाराज-सी मालूम होती हैं।"

सरोज बोली—"उसी बात से नाराज़ हैं, रात तुम आये जो नहीं। तुम्हारे कारण आज वे ठीक से सो भी तो नहीं सकीं। तीन बजे के करीब पिताजी के साथ बड़ी देर तक बातें करती रहीं, सब तुम्हारे ही सम्बन्ध की बातें थीं। मैं अपने कमरे में चुपचाप पड़ी सब बातें सुन रही थी। पिताजी सुबह उठ कर चले गये, मालूम नहीं कहाँ गये होंगे।"

"शायद मुझे पूछने के लिये मेरे दफ़्तर की तरफ़ गये होंगे।" सुरेश ने उसकी बात का जवाब देते हुए पूछा—"अच्छा, सरोज बता तो कल मोक्षधाम कौन-कौन गया था ?"

सरोज ने हँस कर कहा—"अब यह मैं भला कैसे बता सकती हूँ ? हज़ारों आदमी थे वहाँ तो।"

सुरेश ने अपने प्रश्न पर स्वयं ही झेंपते हुए कहा—"मेरा मतलब सब आदमियों से नहीं है, सरोज ! मैं पूछना चाहता हूँ, तेरे साथ वहाँ कौन-कौन गया था ? बुआजी या माँ भी गई थीं क्या साथ में ?"

सरोज बोली—"कल तो कुमुद ही मेरे साथ गई थी, परन्तु वह......" कहते-कहते वह चुप हो गई।

उसे चुप होते देख सुरेश ने पूछा—"क्यों, क्या हुआ, सरु ? चुप क्यों हो गई ?"

"कल मोक्षधाम में बड़ा गोलमाल हुआ, दादा ! ऐसा कभी भी नहीं हुआ था।"

सुरेश ने उत्सुकता से पूछा—"क्या हुआ ? कुछ कहेगी भी, या यों ही पहेली-सी बुझाती रहेगी ?"

सरोज बोली—"सुन कर तुम्हें दुःख होगा, दादा ! बात बड़ी विचित्र-सी है और आश्चर्यजनक भी। तुम तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकोगे। कल शाम को हम दोनों मोक्षधाम गये थे, वहाँ से अकस्मात......।"

सुरेश ने बीच में बाधा देकर पूछा—"तुम दोनों कौन ? तेरे साथ कौन गया था ?"

सरोज बोली—"मेरे साथ कुमुद गई थी। माँ और बुआजी कल नहीं जा सकी थीं।"

"फिर क्या हुआ ?" उत्सुकता से उसने पूछा।

सरोज ने कहा—"कीर्तन समाप्त होने पर मैं कुमुद को छोड़ कर पानी पीने के लिए कुएँ की तरफ़ चली गई। उतनी ही देर में कुमुद ग़ायब होकर मालूम नहीं कहाँ चली गई। अभी तक घर वापस नहीं आई है।"

सुरेश ने विस्मय-विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए पूछा—"क्या कहा ? कल से अभी तक नहीं आई ? कहाँ चली गई ? ढूँढ़ा नहीं किसी ने ? यह तो बहुत ही आश्चर्य की बात सुनाई तुमने।"

सरोज ने उतरे मन से उत्तर दिया—"कौन ढूँढ़ने जाता ? बेचारी का है कौन दुनिया में ?"

सुरेश बोला—"ओफ ! बेचारी बुआजी का तो बुरा हाल होगा इस वक्त। किसी ने ढाढ़स भी न दिया होगा।"

सरोज ने कल की सारी बातें सुनाते हुए कहा—"कल पिताजी ने ही उन्हें समझा-बुझा कर शान्त किया था। पहले उनका विचार था पुलिस वालों को इसकी सूचना दे देने का, किन्तु फिर बदनामी के ख्याल से उन्होंने वैसा करना उचित नहीं समझा। कहते थे, तुम स्वयं ही उसका पता लगा लोगे।"

सुरेश ने किसी गहरे विचार से मानो छूटते हुए कहा—"हाँ, यह तो पिताजी ने ठीक ही किया, परन्तु अब देर.. ...।" सहसा दूसरे कमरे से किसी की भारी आवाज उन दोनों के कानों में आकर पड़ी।

"दफ्तर में तो सुरेश का कहीं भी पता नहीं है। यहाँ भी नहीं आया क्या अभी तक ?"

यह आवाज उनके पिताजी की थी। इसके उत्तर में एक दूसरी बारीक़ आवाज़ सुनाई दी, जो कि शायद उनकी माँ के मुख से निकली थी। वे कह रही थीं—"आ तो गया है, अपने कमरे में बैठा होगा।"

उन्होंने पूछा—"कुछ मालूम हुआ, आज रात भर कहाँ था ?"

वे बोलीं—"मैंने अभी तक उससे कुछ नहीं पूछा है, जाकर स्वयं ही पूछ लो, किन्तु जरा नरमी से पूछना।"

वृद्ध ने गर्जते हुए पूछा—"क्यों ? ऐसे आवारा लड़के के साथ नरमी क्यों की जाय ?"

वृद्धा ने समझाते हुए कहा—"पूरी बात जाने बिना किसी प्रकार का दोष लगाना उचित नहीं है। उसके हाथ-पाँव पर जमी हुई धूल और थके हुए चेहरे से स्पष्ट मालूम होता है कि वह रात भर किसी ख़ास काम के कारण घूमता ही रहा है। उसका काम ही ऐसा है। क्या मालूम, किसी अपराधी की टोह में ही घूमता रहा हो।"

वृद्ध महाशय ने कुछ सोच कर कहा—"उसका काम ही घूम-फिर कर अपराधियों की टोह लगाना है। काशी में दुष्टों की कोई कमी

भी नहीं है। खैर, कुछ भी हो, कम से कम उससे पूछ कर मालूम तो करना चाहिये।"

"हाँ, चलो न; मैं भी तुम्हारे साथ ही उसके पास चलती हूँ।"

माता-पिता को वहाँ आता हुआ देख, सरोज चुपचाप पहले ही वहाँ से खिसक गई, और सुरेश अकेला ही वहाँ बैठा रह गया। दोनों की बातें वह पहले ही सुन चुका था। रात के समय घर से बाहर रहने के कारण उसके चरित्र पर सन्देह किया जा रहा था; किन्तु इसके लिये उसे भय करने की कोई बात ही नहीं थी। वह बेचारा स्वयं तो क्या चरित्र-हीन होगा, औरों को ही सीधे रास्ते पर लाने का उसने बीड़ा उठा लिया था।

रात भर का जागा हुआ सुरेश, इस समय नींद के मारे ठीक एक नशेबाज की तरह मालूम हो रहा था। बड़ी चेष्टा करने पर भी आँखें उसकी झपकी ही जा रही थीं। यद्यपि उसे मालूम हो चुका था कि क्षण भर बाद ही उसके माता-पिता उसके सिर पर आ धमकेंगे, फिर भी आँखें बन्द कर के उसने सामने वाली मेज के ऊपर अपना सिर टेक ही दिया। नहीं कह सकते यह क्रिया उसने जान-बूझ कर की थी, अथवा सचमुच ही नींद के नशे ने उसे इस प्रकार जोर से आकर धर दबाया था कि माता-पिता के पहुँचने का इन्तज़ार भी नहीं कर सका।

दूसरे ही क्षण वृद्ध महाशय ने कमरे में प्रवेश करते हुए कड़क कर कहा- "सुरेश! कल रात तुम कहाँ थे?"

सुरेश मानो स्वप्न में ही चिहुँक पड़ा हो। तुरन्त उठ कर दोनों को प्रणाम किया और खड़े-खड़े ही बोला—"कल रात बड़ा ही ज़रूरी काम आ पड़ा था, पिताजी! इसीलिए नहीं आ सका, समय न मिलने के कारण खबर तक नहीं दे सका।"

वृद्ध की अनुभवपूर्ण एक ही दृष्टि ने सब बातें पूरी तरह से भाँप लीं। सुरेश की निष्कपट मुखाकृति एवं चेहरे पर उत्पन्न हुए उस

समय के सरल भाव ऐसे नहीं थे, कि जिन्हें देख कर भी किसी को उस पर सन्देह करने का साहस होता। उनके मन में उसके प्रति अभी तक जो क्रोध चढ़ा हुआ था, वह सब तुरन्त ही जाता रहा, और उन्होंने स्वयं एक कुरसी पर बैठ कर उसे भी बैठने का संकेत करते हुए बड़े स्नेह से पूछा—"क्या हो गया था कल रात ? सुनाओ तो।"

सुरेश ने सरलतापूर्वक कहना आरम्भ किया—"कल शाम को बड़े अफ़सर ने मुझे बताया कि काशी में आजकल बहुत सी स्त्रियों के खोये जाने की रिपोर्ट मिल रही हैं। कोई दल यहाँ अवश्य ऐसा है, जो स्त्रियों को उड़ा कर दूसरे स्थानों पर उन्हें बेच देने का काम करता है, इसलिये उन्होंने मुझे कुछ आवश्यक बातें समझा कर उस दल का पता लगाने की आज्ञा दी। उनकी आज्ञानुसार गंगा के तमाम घाटों और मन्दिरों में घूमता हुआ सन्ध्या के समय मोक्षधाम की तरफ़ चला गया। मेरा अनुमान था कि प्रायः ऐसे ही स्थानों पर दुराचारियों को अधिक सुयोग प्राप्त होते होंगे। कीर्तन समाप्त होने से पहले ही मैंने एक चक्कर गुप्त रूप से मोक्षधाम के चारों तरफ़ लगाया। मेरा अनुमान ठीक निकला। ताड़-वृक्ष के नीचे एक अँधेरे स्थान पर मुझे दो मनुष्य चुपचाप खड़े हुए दिखलाई दिये। मुझे कुछ सन्देह हुआ, और दूर-दूर रह कर मैंने उनका पीछा करने का दृढ़ निश्चय कर के एक जगह छिप कर खड़ा हो गया। थोड़ी देर में जब कीर्तन समाप्त हो गया और पुरुषों की भीड़ कुछ कम हो गई, तो मुझे दूर से एक लड़की घबराई हुई-सी मुख्य-द्वार से निकलती हुई दिखाई दी। उसे देख कर वे दोनों मनुष्य भी उसके पीछे ही लग गये, और एक अँधेरे स्थान में पहुँचने के बाद उन्होंने उस लड़की को एक भारी कम्बल उढ़ा कर अपने क़ब्ज़े में कर लिया।"

"ओफ़! इतना पाप! ऐसा अन्धेर! फिर क्या हुआ?" वृद्धा ने भय से अपनी आँखें मूँद कर पूछा।

वह बोला—"फिर वे लोग उसे उठा कर गंगा के किनारे ले गये। वहाँ एक नौका उन्हीं लोगों की पहले से तैयार खड़ी थी, उसी पर बैठ कर वे लोग एक तरफ़ को चल दिये। मैं भी गंगा के किनारे चुपचाप पैदल ही उन लोगों के साथ चल दिया। कोई दो-तीन मील जाने के बाद वे लोग नौका से उतर पड़े, और उस लड़की को लेकर पैदल ही एक गाँव की तरफ़ चल दिये। मैं उन लोगों से कुछ पीछे रह गया था; फिर भी बड़ी मुश्किल से उन लोगों का पता लगा ही लिया। अकेला होने के कारण उस समय मैं कुछ भी नहीं कर सका, नहीं तो अवश्य ही उन दुष्टों के हाथ से उस लड़की को छुड़ाने की चेष्टा करता।"

"ओह! वह अभागी लड़की शायद कुमुद ही थी।" सहसा वृद्ध के मुख से उपरोक्त वाक्य निकल पड़ा, और उन्होंने सुरेश की प्रशंसा करते हुए कहा—"शाबास बेटा! तूने बड़े साहस और परिश्रम का काम किया है। भगवान् तुझे इसका उचित पुरस्कार देंगे। जैसे भी हो तू उन दुष्टों को गिरफ़तार कर के कुमुद को अवश्य उनके चंगुल से छुड़ा। मैं तुझे आज्ञा देता हूँ।"

"जो आज्ञा!" कह कर सुरेश ने सङ्कोच से अपना सिर नीचे कर लिया, और फिर माँ के आग्रह से नहा-धोकर खाने के लिये चला गया। भोजनोपरान्त वह अपने कमरे में आकर पलंग पर पड़ते ही प्रगाढ़ निद्रा में खर्राटे भरने लगा।

चौदहवाँ परिच्छेद

स्वामी आलोकानन्दजी इतने बड़े विद्वान् और मोक्षधाम जैसे विशाल आश्रम के मठाधीश होने पर भी अपने भोजन के लिए स्वयं भिक्षा माँग कर लाया करते थे। यद्यपि प्रति दिन सन्ध्या की आरती में ही उनके पास लोगों का चढ़ावा इतना आ जाया करता था, जिससे बढ़िया भोजन तैयार कराया जा सकता था, इसके सिवा मासिक आय भी उस आश्रम की कुछ कम नहीं थी। बड़े-बड़े सेठ और धनी-मानी व्यक्ति उनके शिष्य थे। सब श्रेणी के लोग उनके पास आकर धर्म-शिक्षा प्राप्त किया करते थे। वे सभी यथा-साध्य अपनी-अपनी आय में से कुछ न कुछ अवश्य उस आश्रम की भेंट चढ़ाया करते थे। बहुत से दानी तो ऐसे भी थे, जो प्रति मास एक अच्छी रकम बिना किसी रुकावट के भेज देते थे।

मासिक आय बारह सौ रुपये के ऊपर होने पर भी स्वामीजी नित्य भिक्षा माँगने के लिए अवश्य जाया करते थे। यह नियम उनका अटल था। कोई विघ्न, किसी भी प्रकार की बाधा, उन्हें ऐसा करने से रोक नहीं सकती थी। कभी-कभी कोई पूछ बैठता—"स्वामीजी! आप भिक्षा क्यों माँगा करते हैं?" तब वे उत्तर देते—"हम संन्यासी हैं। भिक्षा माँग कर खाना हमारे लिये सब से पहला नियम है।" इस पर उनसे कहा जाता—"यह नियम और संन्यासियों के लिये हो सकता है—आप के लिये तो नहीं। आप के आश्रम को प्रति मास हजार-बारह सौ की आमदनी हो जाती है, फिर भी आप क्यों ऐसा करते हैं?" स्वामीजी हँस कर जवाब देते—"वह सब आमदनी मेरे किस काम की है, भाई? आश्रम के नाम से भेजे गये रुपयों पर मेरा क्या अधिकार है, वह रुपया तो उसी की उन्नति में लगना चाहिये।"

वास्तव में स्वामी आलोकानन्दजी सच्चे संन्यासी थे। संन्यासाश्रम का कोई भी नियम उनसे छूटा नहीं था। प्रश्न उठ सकता है कि यदि ऐसी बात थी तब वे जंगल में न रह कर, ईंट और मसाले से चुने हुए पक्के, मज़बूत और ठाटदार आश्रम में क्यों रहा करते थे? उत्तर में केवल इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि आन्तरिक इच्छा उनकी ऐसे ही निर्जन एवं एकान्त स्थान में रहने की थी, और इसीलिए शुरू-शुरू में जब वे धूनी लगा कर यहाँ बैठे थे, उस समय केवल गंगा और बनैली झाड़ियों तथा वृक्षों से भरे हुए जंगल के अतिरिक्त वहाँ और कुछ भी नहीं था; किन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उनके शिष्यों की तादाद बढ़ती गई त्यों-त्यो वहाँ की भूमि और वातावरण में भी भारी परिवर्त्तन होता चला गया, और अन्त में विकास इतना हुआ कि अब पूरा आश्रम ही बन गया था।

स्वामीजी के विचार से भयानक वन के भीतर बैठ कर तपस्या करने की अपेक्षा नगर में रह कर भूले-बिछुड़े और अज्ञानी लोगों में धर्म का प्रचार करना ही सर्वोत्तम तपस्या थी। वन के भीतर रहने वाला संन्यासी तो निजी-स्वार्थ के लिये ही तपस्या करता है, उससे अन्य लोगों को तो कोई विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता; परन्तु जो परोपकारी एवं परमार्थी संन्यासी नगर में रह कर भी, संन्यासाश्रम के अधिकांश नियमों का पालन करते हुए पापी, दुराचारी और दुष्टों का अत्याचार सह कर भी अज्ञानी लोगों में धर्म का प्रचार करते हैं, कुपथ त्याग कर उन्हें सत्-पथ पर चलने का उपदेश करते हैं, वे ही परम दयालु एवं पर-हितकारी सच्चे संन्यासी कहलाने का पूरा-पूरा अधिकार रखते हैं। ऐसे महात्माओं के दर्शन-मात्र से ही मन में सद्भावनाओं का संचार होने लगता है। स्वामी आलोकानन्द भी ऐसे ही संन्यासी थे।

मोक्षधाम जैसे विशाल, सुविस्तृत एवं सुविख्यात आश्रम के मठाधीश होने पर भी किसी ने आज तक उन्हें पलंग अथवा किसी

प्यास के मारे उनका कण्ठ सूख गया था, इसलिये दूर से जाते-जाते उनका ध्यान इन झोंपड़ों को देख कर इस ओर आकर्षित हो गया, और वे पानी पीने की इच्छा से अपना रास्ता छोड़ कर इस तरफ़ चले आये; परन्तु यहाँ पहुँचने पर जो अवस्था उन्होंने यहाँ की देखी, उससे उन्हें आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ा। कारण कुछ भी समझ में न आया।

मनुष्य और पशुओं तक से खाली पड़े हुए झोपड़ों को देखते हुए स्वामीजी उन्हीं के बीच से होकर आगे बढ़े जा रहे थे कि इतने में एकाएक उनके कानों में किसी के सिसक-सिसक कर रोने की आवाज़ आई। वे स्तब्ध भाव से खड़े होकर उस आवाज़ को ध्यान से सुनने लगे। पहले तो उन्हें सन्देह हुआ कि शायद यह उनके कानों का भ्रम है, किन्तु जब उन्हें पुनः वही आवाज़ स्पष्ट रूप से सुनाई दी, तो हृदय में स्वभावतः ही एक कौतूहल-सा उत्पन्न होने लगा, और कारण जानने के लिए वे उस मकान के और भी पास में खिसक गये। वह मकान बहुत पुराना, किन्तु मज़बूत और काफ़ी बड़ा था। यद्यपि वहाँ के अन्य सभी झोंपड़े मिट्टी के कच्चे बने हुए थे तथापि वह मकान पुरानी ईंटों का पक्का बना हुआ था। उसके दरवाज़े में बाहर से ताला पड़ा हुआ था, और खिड़कियें सब बन्द थीं।

उसी मकान के भीतर से किसी के सिसकने की आवाज़ आ रही थी। स्वामीजी ने स्वयं ही अनुमान लगाया कि उस मकान के भीतर अवश्य ही किसी स्त्री को बन्द कर के रक्खा गया है। सिसकने की आवाज़ भी बहुत बारीक और अस्पष्ट-सी होने के कारण बहुत ध्यान देने के बाद कभी-कभी सुनाई दे जाती थी। मालूम होता था जैसे किसी दुष्ट ने जान-बूझ कर ही उसे ज़बरदस्ती उसके भीतर बन्द कर दिया हो। आह! उस बेचारी की इस बन्द मकान के भीतर इस समय क्या अवस्था हो रही होगी? स्वामीजी का दयालु हृदय भीतर ही भीतर रो पड़ा। यदि वश चलता, तो तुरन्त भाग कर उसे इस

भयानक यन्त्रणा से मुक्त कर देते, किन्तु ऐसा करना उनकी शक्ति से बाहर था—चेष्टा करने पर भी सफलता मिलने की उन्हें कोई आशा नहीं थी। दरवाज़े में बड़ा-सा मज़बूत ताला लगा हुआ था, और खिड़कियें भीतर से बन्द थीं।

इधर-उधर कोई भी मनुष्य उन्हें दिखलाई नहीं दिया, जिसे समझा-बुझा कर वे उस मकान को खुलवाने की चेष्टा करते। बड़ी कठिन समस्या थी। कमरे के भीतर बन्द व्यक्ति के अपार दुःख की कल्पना कर के स्वामीजी का हृदय मानो स्वयं ही घुटने-सा लगा, एक पल की देर करना भी उन्हें असह्य हो उठा। काशी जाकर स्वयं ही पुलिस को इसकी सूचना देने का निश्चय किया, परन्तु कौन जाने, पुलिसवालों के आते-आते वहाँ सारा मामला ही खत्म हो जाय।

रोने और सिसकने की आवाज़ भी क्रमशः अब क्षीण होती जा रही थी। स्वामीजी की सहनशक्ति अब तक पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। धैर्यवान होते हुए भी दया का भाव अधिक बढ़ जाने के कारण, इससे अधिक वे धीरज न धर सके। विद्युत-गति से झपट कर वे दरवाजे के पास जा पहुँचे और ताले का निरीक्षण करने के लिये उसके ऊपर झुक पड़े।

किन्तु यह क्या? स्वामीजी के झुकते ही तड़ से किसी ने एक लाठी का प्रहार उनकी पीठ के ऊपर किया। वे कराह कर उछल पड़े और पीछे घूम कर देखने लगे। एक मोटा-सा युवक हाथ में लाठी लिये लाल-लाल आँखों से उन्हें घूर रहा था। यदि वे चाहते, तो एक ही घूँसे से उसे धराशायी कर सकते थे, परन्तु ऐसा न कर के उन्होंने नरमी से पूछा—"क्यों भाई! मेरी पीठ पर लाठी मार कर तुम्हें क्या मिल गया?"

लड़का बिगड़ कर बोला—"शरम नहीं आई भाई बोलते हुए? दिन में लोगों के ताले तोड़ते फिरते हो, डाकू कहीं के?"

स्वामीजी ने पहले की तरह नम्रता से कहा—"भाई, मैं तुम्हारा ताला तो तोड़ने यहाँ आया नहीं था। इस घर के भीतर कोई बन्द है, उसी के रोने की आवाज़ सुन कर कारण जानने के लिए मैं यहाँ आया था।"

लड़के ने अपनी लाठी उठाते हुए कहा—"जाओ, बस! चुपचाप चले जाओ यहाँ से; नहीं तो लाठी से तुम्हारा सिर तोड़ दूँगा। तुम्हारे जैसे दुष्टों को देखने के लिये ही मैं दिन भर उस पेड़ पर छिपा बैठा रहता हूँ। जाओ आगे यहाँ से।"

स्वामीजी ने देखा लड़का बहुत ही उद्दण्ड और असभ्य मालूम होता था। कुछ सोच कर उन्होंने उससे अधिक बोलना उचित नहीं समझा, और चुपचाप वहाँ से अपने आश्रम की तरफ़ को चल दिये।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

कृष्ण पक्ष की काली रात्रि थी। आकाश में बादलों के टुकड़े वायु के थपेड़ों से इधर-उधर भागते से दिखाई दे रहे थे। तारों की क्षीण ज्योति थी; बादलों में ढक जाने के कारण अंधकार और भी घनीभूत हो उठा था। ऐसे ही समय एक मनुष्य की काली-सी छाया जल्दी-जल्दी पैर उठाती हुई एक ओर को बढ़ती चली जा रही थी। यद्यपि वायु के तीव्र झोंके क्रमशः बढ़-बढ़ कर एक बड़ी आँधी का रूप धारण करते जा रहे थे, तथापि उस मनुष्य का इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं था, और वह अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर बिना किसी झिझक या भय के बढ़ता ही चला जा रहा था। वायु के तीव्र झोंकों के साथ ही साथ बादलों का प्रभाव भी बढ़ता जा रहा था। देखते-देखते आकाश में बादलों ने इतना जोर पकड़ा, कि जो दो-चार तारे अभी तक कहीं-कहीं देखलाई दे जाते थे, वे भी इस समय बादलों के आवरण में ढँक कर लुप्त-प्राय हो गये और अब अन्धकार और भी घनीभूत हो उठा था। प्रकृति का यह भयानक रूप देख कर भी वह मनुष्य पूर्ववत् चलता ही रहा।

मुगलसराय की तरफ़ जाने वाली सड़क को पार कर के उस मनुष्य की चाल स्वभावतः ही सुस्त पड़ गई। सूखे खेतों के बीच से होकर चलने के कारण पग-पग पर उसे ठोकरें खानी पड़तीं। अनेक बार उन ठोकरों के कारण गिरते-गिरते भी उसे सँभलना पड़ा। यद्यपि आहिस्ता से चलने पर उसे गिरने का वैसा कोई भय नहीं था, तथापि ऐसा करने पर उसे अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने में देर होने की आशंका थी। चलने से पहले अँधेरी रात का ध्यान कर के वह अपने साथ टॉर्च लाना भी भूला नहीं था। बटन दबाते ही उसकी यह कठिनाई

दूर हो सकती थी; किन्तु मालूम नहीं क्यों, वह ऐसा करना नहीं चाहता था। वस्तु होने पर भी उससे लाभ उठाने की उसे इच्छा नहीं हो रही थी। टॉर्च के प्रकाश से अपना मार्ग सरल बनाने की अपेक्षा, ठोकरें खाना ही उसने उचित समझा।

आज सप्तमी थी। बहुत सम्भव है, अर्द्ध-रात्रि के बाद चन्द्रमा निकलने की आशा से ही वह मनुष्य अपनी टॉर्च का प्रयोग कर के व्यर्थ ही उसके मसाले को नष्ट न करना चाहता हो; किन्तु यह भी कोई बात थी भला! ठोकरें तो वह अब खा रहा था, और आशा लगाये बैठा था दो घण्टे बाद की। यदि उपर्युक्त बात ठीक भी हो, तो समझना चाहिये कि या तो वह मनुष्य अत्यन्त लोभी था, और या उसकी प्रकृति ही कुछ विचित्र-सी रही होगी। चोर-डाकू भी तो कुछ ऐसे ही हुआ करते हैं; किन्तु उनमें इतना साहस, ऐसी निर्भीकता और इस प्रकार की स्फूर्ति प्रायः कम ही देखने में आती है। और फिर उन लोगों को टॉर्च साथ में लाने की ऐसी ज़रूरत ही क्या पड़ी? कुछ भी हो, किसी भी कारण से वह मनुष्य अन्धकार में ही चलना पसन्द करता हो, यह कह देना अनुचित न होगा कि उसमें और चोर-डाकुओं में बहुत अन्तर था।

जिस दिशा में वह मनुष्य अकेला होने पर भी इतने साहस और ऐसे उत्साह से बढ़ता हुआ आगे चला जा रहा था, उसी दिशा में एक या डेढ़ मील के फ़ासले पर विष्णुपुर नामक एक गाँव पड़ता था। काशी से वह गाँव पूरा साढ़े तीन मील की दूरी पर था। नाम इतना सुन्दर होने पर भी गाँव इतना सुन्दर न था। पहले कभी रहा हो, तो कह नहीं सकते, किन्तु आजकल तो वहाँ केवल दस-बारह झोपड़ों और एक पक्के मकान के अतिरिक्त और कुछ भी दिखलाई नहीं देता। इधर-उधर दूर-दूर तक सूखे खेत और विस्तृत फैली हुई बञ्जर-भूमि पड़ी हुई है, जिसके बीच-बीच में कहीं-कहीं पुराने मकानों के खण्डहर और ऊँची-नीची पहाड़ी-सी दिखलाई दे जाती हैं। गाँव का

प्राचीन निवासी आजकल एक भी वहाँ नहीं रहता। जान पड़ता है मानो महामारी के डर से सभी भाग कर अन्यत्र कहीं चले गये हों।

भयानक अन्धकार में ऊँची-नीची भूमि पर ठोकरें खाता हुआ जैसे-तैसे वह मनुष्य उस गाँव के एकदम समीप पहुँच ही गया। वृक्षों की आड़ में खड़े हो कर पहले उसने सतर्क दृष्टि से चारों तरफ़ की आहट ली, और जब उसे यह विश्वास हो गया कि वहाँ कोई भी दूसरा व्यक्ति उसके कामों को देखने वाला नहीं है, तो बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे पाँव उठा कर वह उस पक्के मकान की तरफ़ बढ़ा। मनुष्य बहुत होशियार और अपने कामों में दक्ष होने के कारण इस ढंग से आगे बढ़ रहा था कि उसके पैरों का एक भी शब्द चलते समय सुनाई नहीं देता था। भूमि पर पड़े हुए सूखे पत्तों के ऊपर पाँव पड़ जाने पर भी वह मनुष्य बड़ी सावधानी से उनसे उत्पन्न हुए शब्दों में एक परिवर्त्तन-सा कर देता था, और तब ऐसा जान पड़ने लगता था, जैसे हवा में ये पत्ते इधर-उधर लुढ़क रहे हों। इसी प्रकार मकान के पास पहुँच कर वह उसकी खिड़की से सट कर खड़ा हो गया।

बन्द खिड़की की दरार में से उस मनुष्य ने देखा, मकान के भीतर चटाई पर दो मनुष्य बैठे हुए आपस में बातें कर रहे थे। उनसे थोड़ी दूर ईंट पर जाली फ़र्श के ऊपर एक सुन्दर युवती बिना किनारी की धोती पहिने बैठी हुई थी। युवती का चेहरा दुःख, निराशा और आत्म-ग्लानि के कारण मुरझा-सा गया था। चटाई पर बैठे हुए दोनों मनुष्य थे दामोदर और कालीचरन, और उनके सामने बैठी हुई युवती थी अभागी कुमुद। पूरे तीन दिन तक बन्द मकान के अँधेरे कमरे में क़ैद रहने के बाद आज बेचारी को उसके भाग्य का निर्णय सुनाने के लिये यहाँ बुलाया गया था। इन तीन दिनों के भीतर ही कुमुद का रोते-रोते बुरा हाल हो गया था। भोजन न करने के कारण उसका मुख पीला और आँखें अन्दर को धँस गई थीं। क़ैद से छूटने की कोई आशा न होने पर भी आज तक उसने भगवान् शङ्कर को भुलाया नहीं था।

इस समय भी सिर नीचा किये चुपचाप बैठी हुई वह अपने आराध्य देव का ही स्मरण कर रही थी। उसे पूर्ण आशा थी कि ऐसी घोर विपद के समय उनके सिवा और कोई भी सङ्कट-मोचन करने वाला इस दुनिया में नहीं है।

मन ही मन उनका चिन्तन करते-करते उसे झपकी-सी आने लगी थी। एकाएक उसी समय दामोदर की आवाज़ ने उसे चौंका-सा दिया। वह पूछ रहा था—"तुम शादी करना चाहती हो ?" कुमुद ने उसके प्रश्न का उसे कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर वह देती भी क्या ? उसकी इच्छा ही नहीं थी, और यदि इच्छा भी हो तो वह कौन था उसकी शादी कराने वाला ? अभी तो उसकी बुआजी जीवित थीं।

कुमुद को चुप देख कर दामोदर ने फिर पूछा—"शादी करोगी ?" और जब इस बार भी उसे कोई उत्तर न मिला, तो कुछ कड़े शब्दों में उसने कहा—"देखो, यहाँ चुप रहने से काम नहीं चलेगा ! हम लोग तुम्हारे शत्रु नहीं हैं, हमें अपना हितैषी ही समझो। तुम वहाँ पर बहुत दुःख और कष्ट के साथ अपना जीवन बिता रही थीं, यह बात हमसे छिपी नहीं है। उसी कष्ट को दूर करने के लिये हम लोग तुम्हें यहाँ ले आये हैं। घबराओ नहीं, शर्म करने से काम नहीं चलेगा। सच-सच बता दो। तुम्हारे लिये योग्य वर ढूँढ़ लिया गया है। बोलो, शादी करोगी न ?"

इस बार कुमुद ने सिर हिला कर संकेत से कहा—"नहीं !" और पूर्ववत गर्दन झुकाये वह बैठी रही। दामोदर ने कुछ रूखे स्वर से कहा—"तुम्हारे मना करने पर हम लोग मान थोड़े ही जायँगे। यदि सीधे ढंग से नहीं मानोगी, तो फिर हमें तुम्हारे साथ जबरदस्ती करनी पड़ेगी। अच्छा तो यही होगा कि तुम स्वयं ही स्वीकार कर लो। बहुत अच्छा वर है। लाखों का व्यापार करता है। धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा सभी कुछ है। घर में नौकर-चाकर हैं, घोड़ा-गाड़ी है, मोटर है, और न जाने क्या-क्या है। रानी बन कर घूमा करोगी। कल सुबह

वह यहाँ आ जायगा। देखना, सोने-चाँदी के आभूषणों से लद जाओगी। ऐसा मौक़ा बार-बार हाथ नहीं आया करता।"

कुमुद इससे अधिक सुनना नहीं चाहती थी। उसके लिये दामोदर के विचार और उसके कहे हुए शब्द अत्यन्त कुत्सित और घृणास्पद थे। वह नहीं चाहती थी कि उसके विवाह के सम्बन्ध में एक भी शब्द उससे कहा जाय।

अपने आराध्यदेव का उसे पूरा-पूरा भरोसा था। उन्हीं के सहारे इस समय उसकी जीवन-नौका अथाह संसार-सागर में डगमगाती चली जा रही थी। दामोदर का प्रत्येक शब्द शूल की तरह उसके हृदय में वेदना उत्पन्न कर रहा था। वेदना असह्य हो उठने पर वह क्षुब्ध हृदय से बोल पड़ी—"क्षमा कीजिये, मुझे न तो विवाह कराने की आवश्यकता है, और न कुछ उसकी इच्छा ही है। आप लोगों ने चोरों की तरह मुझे यहाँ लाकर कोई भले आदमियों जैसा व्यवहार नहीं किया है। किस बात पर मैं आपसे सहानुभूति की आशा कर सकती हूँ? अच्छा हो, जहाँ से आप लोग मुझे लाये हैं वहीं वापस......।"

बीच में ही कालीचरन बोल उठा—"अजी दामोदर! मैंने पहले ही तुमसे कहा था कि यह लड़की अपने हठ की पूरी है; सरल स्वभाव की नहीं है। इसको समझाने में व्यर्थ ही अपना समय और दिमाग़ ख़राब करने की ज़रूरत नहीं। कल सुबह वह सेठ आवेगा। उसके आते ही दो हज़ार की पूरी रक़म गिना कर इसे उसके हवाले कर देना—बस!"

सहसा उन दोनों ने खिड़की से बाहर किसी को बोलते हुए सुना। जान पड़ा उस खिड़की के पास ही किसी ने पूछा हो—"कौन है?" और इसके साथ ही बाहर कुछ मनुष्यों के चलने-फिरने की आवाज़ें उन्हें सुनाई देने लगीं। उन्हें जान पड़ा, जैसे कुछ लोग उनके न

के पीछे चुपचाप खड़े हुए कुछ परामर्श कर रहे हों। दामोदर और कालीचरन दोनों ही किसी अज्ञात भय के कारण पहले तो काँप उठे, फिर कारण जानने के लिये दोनों ही अपने-अपने स्थान से उछल कर खड़े हो गये और कोने में रक्खी हुई लाठियाँ उठा कर बिना समझे-बूझे दोनों वहाँ से निकल पड़े, जल्दी में दरवाज़ा भी बन्द न कर सके। चोर और बदमाशों के मन में सदा भय ही लगा रहता है, इसीलिये दरवाज़ा बन्द करने की भी इन्हें सुध न रही।

मकान के पीछे जाने पर उन्हें मालूम हुआ जैसे दो मनुष्य उन लोगों की खिड़की के पास खड़े हुए धीरे-धीरे आपस में बातें कर रहे हों। कालीचरन लाठी चलाने और मारपीट करने में कभी किसी से पीछे नहीं हटता था। केवल दो ही मनुष्यों को देख कर उसे जोश आ गया, और उसने चाहा कि आगे बढ़ कर अपनी लाठी से उन दोनों का सिर तोड़ दे, किन्तु दामोदर ने हाथ पकड़ कर उसे रोक लिया, और चुपचाप खड़े होकर उन दोनों की बातें सुनने का संकेत कर के आड़ में छिप गये।

उन्होंने देखा एक मनुष्य ने खिड़की के पास पहले से खड़े हुए दूसरे मनुष्य की तरफ़ बढ़ते हुए कहा—"यार ग़ज़ब का अँधेरा है। एक दूसरे को पहिचानना भी कठिन हो रहा है। यदि तुम्हारी आवाज़ बदली नहीं है, तो क्या तुम धीरेन्द्र नहीं हो?"

धीरेन्द्र ने बहुत धीरे से कहा—"तुम्हारा अनुमान ग़लत नहीं है, सुरेश! बहुत धीरे-धीरे बातें करो, देखो! वे लोग चुप हो गये हैं—बहुत सम्भव है हमारी बातें सुन कर वे लोग बाहर निकल आवें। अच्छा होगा, हम लोग यहाँ से दूर हट चलें।"

सुरेश ने पूछा—"लेकिन इस वक्त आधी रात को तुम यहाँ कैसे दिखाई दे रहे हो? छुट्टी होने के बाद तो तुम घर चले जाते हो न?"

"हाँ, चला तो जाता हूँ," उसने उत्तर देते हुए कहा—"लेकिन आज मैं यहाँ क्यों आया हूँ? इसका भी एक कारण है, जो मैं तुम्हें

फिर बताऊँगा।" इतना कह कर उसने खिड़की की दरार से भीतर झाँक कर देखा, और तुरन्त चिल्ला पड़ा—"अरे वहाँ तो कोई भी नहीं है।"

दूसरे क्षण ही उसने घूम कर देखा, दामोदर और कालीचरन लाठी ताने उन्हीं की तरफ झपटे चले आ रहे थे। धीरेन्द्र ने शीघ्रता से सुरेश का हाथ पकड़ कर खींचते हुए कहा—"भागो जल्दी, वे लोग आ पहुँचे।" और इसके बाद ही वे दोनों वहाँ से भाग खड़े हुए।

दामोदर और कालीचरन ने उन दोनों को पकड़ने की बहुत ही चेष्टा की किन्तु कालेज से निकले हुए दोनों युवकों को पकड़ सकने में समर्थ न हो सके। अन्त में थोड़ी दूर पीछा करने के बाद वे दोनों हार कर वापस आ गये। मकान का दरवाजा इस समय भी खुला पड़ा था। घबड़ाते हुए दोनों ने अन्दर जा कर देखा, कुमुद वहाँ से गायब थी। धड़कते हृदय से दोनों ने लालटेन हाथ में लेकर खूब ढूँढ़ा इधर-उधर; किन्तु लाख चेष्टा करने पर भी वे लोग कुमुद को दोबारा न पा सके।

मोक्षधाम का नाम सुनते ही स्वामीजी आश्चर्य से उछल पड़े और बोले—"क्या कहा ? हमारे ही मोक्षधाम से !"

"जी," धीरानन्द ने चुपके से उत्तर दिया—"कीर्तन समाप्त होने के बाद रात्रि के समय वह अपने घर को वापस जा रही थी। गंगा के किनारे अन्धकारपूर्ण एकान्त स्थान में उन दुष्टों को मौक़ा लग गया, और उन्होंने जबरदस्ती एक कम्बल ओढ़ा कर उसे अपने क़ाबू में कर लिया। तभी से वह वहाँ बन्द थी।"

"शिव ! शिव ! शिव !" स्वामीजी ने अपार दुःख प्रगट करते हुए कहा—"दुष्टों की क्रूर-दृष्टि हमारे पवित्र आश्रम के ऊपर भी पड़ने लगी है। अवश्य ही तब तो स्त्रियों के लिये कोई उचित प्रबन्ध करना पड़ेगा।"

धीरानन्द ने गम्भीरतापूर्वक कहा—"हाँ, ऐसी ही कोई व्यवस्था की जायगी। पहले तुम यह बताओ ये सब बातें तुम्हें मालूम कैसे हुईं ?"

अभयानन्द बोला—"उसी लड़के से जो कल आपको भी मिला था। हमारे उस मकान के पास पहुँचते ही वह लड़का तुरन्त ही हमारे पास आ पहुँचा और लाल-लाल आँखें कर के हमें तुरन्त ही वहाँ से चले जाने को बोला। हम लोग कहने से यूँ वहाँ से टलने वाले नहीं थे। कल आप के ऊपर उस दुष्ट ने लाठी से प्रहार किया था, हम लोग उस बात को भूले नहीं थे। जब उसके बार-बार कहने पर भी हम लोग वहाँ से नहीं हटे, तो उसने हमारे ऊपर भी अपनी उसी लाठी का प्रयोग करना चाहा। यह देख कर हमें गुस्सा आ गया, और पकड़ कर उसे दो-तीन चाँटे जड़ दिये।"

स्वामीजी ने कहा—"ओफ़ ! यह तुमने बुरा किया। किसी पर

क्रोध करना अथवा बदला लेने के अभिप्राय से उसके ऊपर प्रहार करना हम लोगों का कर्त्तव्य नहीं है। हम लोगों में सहनशीलता होनी चाहिये।"

अभयानन्द बोला—"गुरुदेव! दुष्टों के साथ जब तक वैसा ही व्यवहार न किया जाय तब तक वे लोग वश में आते ही नहीं। आप को निर्दोष होते हुए भी उस दुष्ट ने लाठी मार दी, इसका बदला लिये बिना हम लोग क्या उसे यों ही छोड़ देते? दो चाँटे लगते ही वह ढंग पर आ गया, फिर पकड़े जाने के भय से उसने तुरन्त ही सारी बातें हमारे आगे सच-सच उगल दीं। उसी से मालूम हुआ कि कोई सेठ दामोदरदास और कालीचरन नाम के दो व्यक्ति हैं, उन्हीं का वह नौकर है, और उन्हीं की आज्ञा से वह सारे दिन उस पेड़ पर छिपा बैठा रह कर आने-जाने वालों को देखता रहता है।"

स्वामीजी देर तक उनकी बातों को चुपचाप बैठे हुए सुनते रहे। अभयानन्द की बात खतम होने पर भी वे उसी प्रकार गम्भीर-चिन्तन में निमग्न रहे, और तब कुछ सोच कर बोले—"इसीलिये तो काशी सर्वगुण-सम्पन्न एक अपूर्व नगरी कही गई है। यहाँ पापी भी हैं और धर्मात्मा भी। उच्च कोटि के विद्वान् भी हैं, और नीच से नीच प्रकृति के मूर्ख और अज्ञानी भी। धर्म-धुरन्दर विद्वानों से जहाँ यह नगरी भरी है, वहाँ अत्यन्त पातकी और घोर पापिष्टों का भी इस स्थान पर कोई अभाव नहीं है। भगवान् शिव ऐसे ही विचित्र स्थान पर अपने भक्तों की परीक्षा लिया करते हैं। यहाँ रह कर जो पापियों और दुराचारियों के संग से अपने को बचाये रहते हैं, वे व्यक्ति महान् हैं, आदरणीय हैं।"

धीरानन्द ने कुछ क्षण बाद पूछा—"फिर अब उन लोगों के बारे में आप का क्या विचार है?"

स्वामीजी बोले—"उन दुष्टों ने हमारे आश्रम में आई हुई एक भद्र महिला को उड़ा कर बहुत बुरा काम किया है। इससे हमारे पवित्र आश्रम की ख्याति में धब्बा लग जाने की सम्भावना है। जैसे भी हो, उसे वहाँ से छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिये, और पुलिस में इसकी सूचना देकर उन दुष्टों को भी पकड़वा देने का प्रबन्ध करना होगा, ताकि भविष्य में ऐसा करने का उन्हें साहस न हो। सुरेश बाबू से हमारा काफ़ी परिचय है। वे आजकल खुफिया-विभाग में इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त हो गये हैं, उनसे ही इस मामले में सहायता लेनी चाहिये। आज ही जाकर उन्हें यहाँ आने के लिये कह आओ।"

अभयानन्द ने कहा—"गुरुजी! उस लड़की को तो हम लोग उन दुष्टों के चँगुल से छुड़ा लाये हैं, अब केवल...।"

स्वामीजी ने प्रसन्नता से बीच में ही बाधा देकर पूछा—"अरे, कैसे छुड़ा लाये उसे? कहाँ है वह अब?"

"अभी तो वह अपने ही आश्रम में है।" अभयानन्द ने उत्तर देते हुए कहा—"स्त्रियों के ठहरने के लिये जो कमरे बने हुए हैं, उन्हीं में लाकर उसके ठहरने का प्रबन्ध कर दिया है। कल दिन के समय उस लड़के से सारी बातों का पता लगा कर हम लोग वहाँ से वापस आ गये थे; रात होने के बाद हम लोग एक बार फिर वहाँ गये थे, और तभी हमारा मौक़ा लग गया।"

स्वामीजी ने अपने शिष्यों को प्रोत्साहित करते हुए कहा—"काम तो तुम दोनों ने वास्तव में काफ़ी परिश्रम और साहस का किया है। कैसे तुम लोग उन धूर्तों की आँखों में धूल झोंक कर उसे वहाँ से छुड़ा लाये? वे लोग तो हर समय सतर्क रहते हैं।"

अभयानन्द बोला—"कल अर्द्ध-रात्रि के बाद ही हम लोग फिर वहाँ गये थे। विष्णुपुर पहुँचते-पहुँचते हमें प्रायः एक बज गया था। कृष्ण-पक्ष की सप्तमी होने के कारण चन्द्रमा उस समय तक नहीं निकला था। बादल छा जाने के कारण अन्धकार और भी घनीभूत हो उठा था। बड़ी कठिनाई से हम लोग जैसे-तैसे वहाँ तक पहुँचे और उस मकान के पास छिप कर वहाँ का हाल-चाल मालूम करने लगे। पहले तो कोई विशेष बात पैदा न हुई; किन्तु आध घण्टे के बाद हमें उस मकान के पीछे वाली खिड़की के पास एक मनुष्य चुपचाप आकर खड़ा होता हुआ दिखलाई दिया। वह भी हमारी ही तरह उन दुष्टों का पता लगाता हुआ वहाँ तक पहुँचा था, क्योंकि उसका चोरों की तरह आकर चुपचाप वहाँ खड़ा हो जाना इस बात की साक्षी था।"

स्वामीजी ने उत्सुकता से कहा—"अवश्य ही वह कोई खुफिया-विभाग का कर्मचारी रहा होगा?"

धीरानन्द ने कहा—"हमें भी यही सन्देह हुआ था। बाद में वे लोग दो हो गये थे; दूसरे के पहुँचते ही वहाँ गड़बड़ी हो गई थी।"

"हाँ, फिर क्या हुआ?" स्वामीजी ने शीघ्रता से पूछा। उनकी दिलचस्पी इस मामले में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी।

अभयानन्द ने अपनी बात को जारी रखते हुए कहना आरम्भ किया—"थोड़ी देर बाद ही हमें ऐसा मालूम पड़ा जैसे एक मनुष्य और भी वहाँ आ गया हो। उसने धीरे से आकर पहले वाले मनुष्य के कंधों को स्पर्श किया। वहाँ खड़ा हुआ व्यक्ति उसके स्पर्श से चौंक कर उछल पड़ा। दोनों में कुछ देर तक बातें होती रहीं। जान पड़ता था, दोनों एक दूसरे को भली प्रकार जानते थे, क्योंकि उनमें से एक ने दूसरे को 'धीरेन्द्र' कह कर सम्बोधित किया था और दूसरे ने...।"

अभयानन्द कहते-कहते चुप हो गया और धीरानन्द की तरफ़ प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखने लगा। शायद वह उस दूसरे व्यक्ति का नाम भूल गया था। धीरानन्द ने याद कर के बताया, "दूसरे को उसने 'सुरेश' कह कर बुलाया था।"

"सुरेश!" स्वामीजी ने आश्चर्य से कहा—"ओह! तब तो अवश्य ही पुलिस को भी उनका पता लग गया है।"

अभयानन्द ने कहा—"हाँ, सुरेश ही था वह दूसरा व्यक्ति। वही तो पहले से वहाँ खड़ा हुआ था। दूसरा आने वाला उसी का साथी रहा होगा; किन्तु उसके पहुँचते ही वहाँ एक गड़बड़ी-सी फैल गई। मकान के भीतर रहने पर भी उन दुष्टों को मालूम नहीं कैसे, हम लोगों की कुछ आहट-सी मिल गई, और तुरन्त ही वे दोनों हाथों में लाठियें लेकर मकान से बाहर निकल आये। उस समय वे लोग उस लड़की से बैठे हुए कुछ बातें कर रहे थे। जान पड़ता था, वे लोग बाहर की आहट पाकर एकदम भयभीत हो उठे थे। इसीलिये जल्दी से निकलते समय दरवाज़ा भी बन्द करना भूल गये। वह लड़की ऐसे ही अवसर की ताक में थी। उन लोगों के बाहर निकलते ही वह भी चुपचाप बाहर निकल आई और मकान की आड़ में अपने को बड़ी सावधानी से छिपाती हुई बहुत दूर निकल गई। उसके चले जाने के बाद फिर हम लोगों ने भी वहाँ अधिक ठहरना उचित नहीं समझा और बड़ी फुर्ती से उसी के पीछे-पीछे चल दिये। खेतों में पहुँचने पर उसने भागना शुरू कर दिया। हम लोगों के पहुँचने पर तो वह और भी भयभीत होकर यथाशक्ति ज़ोरों से भागने लगी थी, किन्तु जब हमने उसे बहुत-बहुत सान्त्वना दी और मोक्षधाम का नाम लिया, तो उसका भय दूर हो गया और शान्त हो कर चुपचाप हमारे साथ यहाँ चली आई।"

"भगवान् शिव ने हमारे आश्रम की लाज बचा ली!" सन्तोष

प्रकट करते हुए स्वामीजी ने धीरानन्द की ओर देखते हुए कहा— "अभी जाकर आश्रम की अन्य स्त्रियों के साथ उसके रहने की उचित व्यवस्था कर दो। देखना, खाने-पीने का उसे कोई कष्ट न होने पाये। और अभयानन्द ! तुम स्वयं जाकर सुरेश बाबू को जितना शीघ्र हो सके यहाँ बुला लाओ।"

"जो आज्ञा," कह कर दोनों शिष्य स्वामी को अभिवादन कर के वहाँ से चले गये।

सत्रहवाँ परिच्छेद

दूसरे दिन सूर्योदय होने से एक घण्टा पहले ही पुलिस-कान्स्टेबिलों की एक पूरी गारद ने जाकर विष्णुपुर के उस पक्के मकान को चारों तरफ़ से घेर लिया। वे लोग सब मिला कर दस आदमी थे। सभी हृष्ट-पुष्ट और संगीनें चढ़ी हुई बन्दूकें लिये हुए थे। गत रात्रि सुरेश ने यहाँ से जाकर सब से पहले पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट से भेंट की और उन्हें कुल बातें संक्षेप में समझा कर सेठ कालीचरन और दामोदरदास के नाम गिरफ्तारी के वारण्ट प्राप्त कर लिये। आज की सारी रात उसे जागते ही बीती थी। विलम्ब होने पर कहीं वे लोग वहाँ से भाग न जायँ, इस ख्याल से वह फ़ौरन ही दस कान्स्टेबिलों के साथ विष्णु-पुर जा पहुँचा।

सुरेश को पूर्ण विश्वास था कि वहाँ पहुँचते ही वह उन दुष्टों को बड़ी आसानी से गिरफ्तार कर लेगा, परन्तु ऐसा न हो सका। उस पक्के मकान के दरवाज़े में बाहर से ताला बन्द था। खिड़की और दरवाज़ों पर ध्यान से सुनने पर भी उन्हें मकान के भीतर से कोई आहट नहीं मिली। वहाँ के शान्त वातावरण को देख कर सुरेश को बड़ी निराशा हुई, किन्तु फिर भी मालूम नहीं क्यों, वह एक दम से हताश नहीं हुआ। इस बार अपने अफ़सर से वह पूरे-पूरे अधिकार प्राप्त कर के ही वहाँ आया था। ताला तोड़ कर भीतर से मकान की तलाशी लेने का उसने मन ही मन सङ्कल्प किया, और तब अपने साथियों को ताला तोड़ने की आज्ञा दे दी।

क्षण भर के बाद ही सुरेश अपने साथियों के साथ ताला तोड़ कर उस मकान के भीतर घुस गया, और देखते-देखते हर कमरे की

तलाशी ले डाली, किन्तु वहाँ उन लोगों को एक भी वस्तु ऐसी न मिली, जिससे अपराधियों को गिरफ्तार करने में कुछ सहायता मिल सके। एक ओर पड़ी हुई खाली चारपाई; कोने में लपेटी हुई चटाई और एक पुरानी टूटी चिमनी की लालटेन—बस! इतनी वस्तुएँ थी उस सारे मकान में। सुरेश को अपनी इस असफलता पर बहुत खेद हुआ, उसे अपराधियों के भाग जाने की ज़रा भी आशा न थी। मन मारे हुए बेचारा अपने साथियों के साथ मकान से बाहर निकल आया।

बाहर आकर अभी वे लोग खड़े ही हुए थे कि सहसा उनमें से एक की दृष्टि उस सामने वाले बड़े पेड़ की ओर जा लगी, और उसी क्षण वह चिल्ला पड़ा—"अरे, ज़रा उधर तो देखो! वह सामने उस पेड़ पर कौन छिपा बैठा है?"

सब की दृष्टि एक साथ ही उस वृक्ष की ओर घूम गई। सचमुच ही एक मोटा लड़का पेड़ के ऊपर चढ़ा हुआ घने पत्तों की आड़ में अपने आप को छिपाने की कोशिश कर रहा था। अब क्या था? देखते-देखते सब उसी तरफ़ को झपट पड़े। लड़का, पहले तो बहुत कहने पर भी उस पेड़ से उतरने पर राज़ी न हुआ, किन्तु जब सिपाहियों ने नीचे से पत्थर फेंकने शुरू किये, तब मजबूर होकर उसे उतरना ही पड़ा ऊपर से। परन्तु नीचे आकर भी वह डरा नहीं उन लोगों से, बल्कि अकड़ कर कुछ नाक-भौं सिकोड़ता हुआ ढिठाई से बोला—"अजी, काहे हमका दिक़ करत हो जमादार साहेब?"

एक सिपाही ने कुछ कड़क कर पूछा—"तू वहाँ पत्तों की आड़ में छिप कर क्यों बैठा हुआ था रे?"

आँखें मटका कर उसने जवाब दिया—"एजी, हम छिप के काहे बैठित भला। दिन भर ढोर चुगावत हयीं खेतन माँ, एई से बैठिन

रहिन अजे माँ—मुला कोनों चोर-डाकू तो ह्याँ नईं, जमादार साहेब ?"

सिपाही ने और भी बिगड़ कर कहा—"चोर-डाकू के बच्चे ! इतनी सुबह सूरज निकलने से भी पहले तू यहाँ ढोर चुगाने कैसे आ गया ? सच-सच बता, नहीं तो अभी मारे डण्डों के तेरी हड्डी-पसली तोड़ डालूँगा, याद रख !"

और इतना कह कर सचमुच ही वह सिपाही अपना डण्डा हाथ में लेकर उसकी तरफ़ को बढ़ा। इस बार वह लड़का वास्तव में घबरा गया, क्योंकि ढोर चुगाने का बहाना झूठा साबित हो चुका था, फिर भी धैर्य धारण कर के वह पूछ ही बैठा।

"आप हम से कौन सच्ची बात पूछा चाहत हैं ? जरा सुनूँ तो सही।"

सिपाही भी अपने काम में पूरा अनुभवी मालूम होता था, इसीलिये उसने एक भेद-भरी दृष्टि से सुरेश को देखते हुए मुस्करा कर, किन्तु अस्पष्ट स्वर में कहा—"लड़का बड़ा धूर्त्त मालूम देता है।" और तब वह तुरन्त ही उसकी ओर घूम कर बोला—"देख लड़के ! अगर तूने हमारी बात का पूरा-पूरा जवाब दिया, तो हम तुझे सरकार से एक बड़ा इनाम दिलवायेंगे, लेकिन अगर तूने हम लोगों को धोखा देने की कोशिश की, तो याद रख तुझे जेल की हवा खानी पड़ेगी—समझा ?"

लड़के ने लापरवाही से, किन्तु कुछ सँभल कर कहा—नहीं हजूर ! हम सब बात ठीक ही बताईबे।"

उसने पूछा—"अच्छा बताओ, उस मकान के लोग इस वक्त कहाँ हैं ?"

प्रश्न सुनते ही लड़का कुछ इधर-उधर करने लगा। सिपाही ने कड़क कर दुबारा कहा—"जल्दी बता।"

लड़के ने जवाब दिया—"हम का जानी, सरकार !"

जवाब सुनते ही सिपाही को गुस्सा आ गया और उसने तड़ से एक चाँटा उसके गाल पर जमा कर कहा—"सरकार का बच्चा ! नहीं बतायेगा अब भी ? जल्दी बता, बता जल्दी।" और फिर तड़-तड़ अनेक चाँटे पड़ने लगे उसके गालों पर। अब तो वह लड़का सचमुच ही बहुत घबरा उठा और शीघ्र ही बोल पड़ा—"बता......बतावत हूँ सरकार !"

सिपाही ने चाँटे लगाना बन्द कर दिया, और सब लोग उत्सुकता से उसकी ओर देखने लगे। लड़का बोला—"हुजूर ! इस मकान माँ दू ठौ सेठ रहित रहे। आज रात ही जाने कहाँ चले गये, हम नहीं जानित सरकार ! हमसे बताके नहीं गये—मुला उनकेर एक ठौ बजड़ा गंगा माँ हय, वही माँ गये हुई हयँ, इत्ता मालूम है बस !"

सिपाही ने पुनः डाँट कर पूछा—"तू इस पेड़ पर छिपा हुआ क्या किया करता है ?"

लड़के ने कहा—"वही सेठ हमका पाँच रुपया महीना पर नौकर रक्खे रहेन। उनके पीछे दिन में हम इहाँ छिप के इस मकान की चौकसी करते रहिन। बस, और हमार कुछू काम नाहीं रहा।"

अब सुरेश ने वहाँ अधिक समय नष्ट करना उचित नहीं समझा। इधर-उधर भटकते फिरने से तो गंगा के किनारे कहीं पर तलाश करना ही अधिक उपयोगी होगा, ऐसा निश्चय कर के उसने तुरन्त ही सब को वहाँ से चल देने की आज्ञा दी। कुछ सोच कर लड़के को भी उन लोगों ने अपने साथ ही ले लिया और शहर की तरफ़ को चल दिये।

अभी वे लोग पक्की सड़क के पास तक पहुँचे ही थे कि इतने में धीरेन्द्र बड़ी जोर से अपनी बाईसिकिल दौड़ाते हुए उन लोगों के पास

पहुँचा और तुरन्त ही सुरेश के सामने जाकर हाँफता हुआ बोला—"जल्दी चलो...बड़ा अच्छा मौक़ा है...इस वक्त सब एकट्ठा हैं। देर होने पर हाथ से निकल जायँगे। चलो, बस जल्दी चलो।"

दूसरे क्षण ही वे सब लोग धीरेन्द्र के पीछे-पीछे गंगा की तरफ़ को भाग चले। रास्ते में भागते ही भागते सुरेश ने उससे पूछा—"तुम्हें वे लोग किस जगह मिले थे?"

धीरेन्द्र ने बड़ी कठिनाई से अपनी उखड़ी हुई साँस को सँभाल कर कहा—"दामोदर या कालीचरन से तो मैं अभी तक मिल नहीं सका, मिलना ठीक भी नहीं था, क्यों कि रात में वे लोग मुझे तुम्हारे साथ देख कर पहिचान गये थे। इस समय अगर मैं उनसे मिलने की कोशिश भी करता, तो अवश्य ही वे लोग छुरे से मेरा प्राणान्त ही कर देते।"

इतना कह कर वह साँस लेने के लिये थोड़ा रुक गया। तभी सुरेश ने पूछा—"फिर तुम हमें कहाँ लिये जा रहे हो?"

धीरेन्द्र सुस्ता कर बोला—"घबराओ नहीं, हम लोग ठीक ही जगह जा रहे हैं। तुम्हें मालूम है, वे लोग अपनी चिट्ठियाँ मुझ से ही लिखवाया करते थे। इस बार तीन चिट्ठियाँ लिखी गई थीं, वे तीनों असली चिट्ठियाँ मेरे पास मौजूद हैं। उनकी नक़ल भेज दी गई थीं। आज सुबह की गाड़ी से उन लोगों का दलाल एक ग्राहक को लेकर आया है। सब से पहले वह मेरे ही मकान पर पहुँचा। मैंने उसे झूठे ही कह दिया कि वे दोनों हरिश्चन्द्र-घाट पर अपने बजड़े में बैठे हुए मिल जायँगे। इसके बाद वह ग्राहक के साथ मेरे मकान से निकल कर गंगा की तरफ़ उन लोगों से मिलने चला गया।"

सुरेश ने सशंकित दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए पूछा—"फिर तुम निश्चित रूप से यह कैसे कह सकते हो कि वे वहीं पर होंगे?"

धीरेन्द्र ने जवाब दिया—"इसलिये कि मैं स्वयं उन लोगों को को उसी जगह देखता हुआ आ रहा हूँ। दलाल और उस ग्राहक के चले जाने के बाद मेरे मन में कुछ शंका-सी पैदा हुई, और मैं तुरन्त ही अपनी साइकिल उठा कर उन लोगों के पीछे-पीछे हरिश्चन्द्र-घाट तक चला गया। वहाँ पहुँचने पर यह देख कर मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ कि जो बात उन लोगों को टालने के लिये अनायास ही मेरे मुख से निकल गई थी, वह सचमुच ही ठीक निकली। दामोदर और कालीचरन दोनों ही अपने बजड़े में बैठे किसी के आने का इन्तज़ार कर रहे थे। दूर से अपने दलाल और ग्राहक को देख कर उन लोगों ने बजड़े को किनारे लगा लिया, और फिर गंगा के बीच में ले जा कर एक तरफ़ को धीरे-धीरे चल दिये। इतना देखते ही तुम्हें ख़बर देने के लिये मैं साइकिल पर इधर चला आया। अभी वे लोग ज्यादा दूर नहीं गये होंगे। कोशिश करने पर शीघ्र ही पकड़े जा सकते हैं।"

यद्यपि वे लोग आपस में बातें करते हुए चल रहे थे, किन्तु इससे उन लोगों की तेज़ चाल में किसी तरह की बाधा नहीं पहुँच पाई थी, और इसीलिये वे लोग बीस मिनट के भीतर ही गंगा-तट पर जा पहुँचे। जाते ही उन्होंने एक बड़े बजड़े पर अपना अधिकार जमाया, और उसके मल्लाहों को भारी इनाम देने का वायदा कर के तुरन्त ही हरिश्चन्द्र-घाट की तरफ़ को चलने की आज्ञा दी। पुरस्कार पाने के लोभ से, अथवा कह नहीं सकते पुलिस वालों के रोब से, माँझी लोग तुरन्त ही बड़े वेग से उस बजड़े को चलाने लगे। इस समय वे लोग पूरे उत्साह से अपना काम कर रहे थे। गंगा के शान्त एवं गम्भीर जल में केवल डांडों के चलने का 'छप-छप' शब्द ही उस घोर नीरवता को भङ्ग कर रहा था, अन्यथा यत्र-तत्र-सर्वत्र ही निस्तब्धता छाई हुई थी। गंगा-तट पर बना हुआ घाट इस समय भी जन-शून्य ही था।

लगभग आध घण्टा उसी तेजी से चलने के बाद अन्त में उन लोगों को दूर कुछ फ़ासले पर वह हरे रंग का बड़ा-सा बजड़ा मन्थर गति से चलता हुआ दिखलाई दिया ! उसे देखते ही धीरेन्द्र खुशी के मारे अपनी जगह से उछल पड़ा और अपने साथियों की ओर घूम कर बोला—"लो भाई ! सावधान हो जाओ, वह देखो सामने ही वे दुष्ट जा रहे हैं ।"

सब के मन में उत्साह की नई तरंगें लहरें मारने लगीं, और वे लोग अपनी-अपनी बन्दूकें सम्भाल कर सावधानी से बैठ गये । सुरेश ने माँझियों को भी उत्साहित करते हुए कहा—'शाबाश ! बहुत हिम्मत की तुम लोगों ने, थोड़ा और साहस करो—सामने वाले बजड़े के पास ले जाकर अपने बजड़े को ठीक उससे सटा कर लगा दो—समझे ?"

"जी" कह कर उन लोगों ने फिर एक बार बड़े साहस से काम लिया, और देखते-देखते बड़े कौशल से अपने बजड़े को सामने वाले बजड़े के साथ एक-दम सटा कर लगा दिया । क्षणमात्र में सुरेश और धीरेन्द्र अपने साथ पुलिस के दस जवान लिये हुए दूसरे बजड़े में कूद पड़े और सामने बैठे हुए चारों व्यक्तियों को घेर लिया । यद्यपि सेठ दामोदर दास, कालीचरन तथा उनके दलाल महाशय ने बड़ी फुर्ती से छुरे निकाल कर अपनी आत्म-रक्षा करने का प्रयत्न किया; तथापि संगीन चढ़ी हुई बन्दूक़ों के आगे बेचारों की एक भी न चली, और देखते ही देखते तीनों के हाथों में हथकड़ी डाल दी गई ।

चौथा व्यक्ति, जो कि देखने में भला और किसी उच्च-कुल का जान पड़ता था, यह सब काण्ड देख कर थर-थर काँपने लगा, और हाथ जोड़ कर रोने-गिड़गिड़ाने लगा—"मुझे क्षमा कीजिए, मेरा इस मामले में कुछ भी दोष नहीं है—मैं निरपराध हूँ......।"

धीरेन्द्र ने कुछ व्यंग्य से कहा—"हुँह ! आप निरपराध हैं, आप

का कुछ भी दोष नहीं है। शरम नहीं आई आप को कहते हुए ? दो शादियाँ आप की हो चुकी हैं, और तीसरी करने के लिये फिर भी तैयार हैं। पचास वर्ष के बूढ़े होने पर भी काम-वासना आप की नहीं गई। पन्द्रह वर्ष की सुन्दर कन्या के साथ ही तो विवाह करने यहाँ आये थे न आप ? छिः धिक्कार है आप के जीवन पर ! जो लड़की आप के लड़के को व्याही जानी चाहिए, उसी के साथ आप स्वयं व्याह करना चाहते हैं। ओफ़ ! कितना भयानक अपराध है आप का ? किस मुख से कहते हैं आप कि मैं निरपराध हूँ ? रुपये के बल पर आप उस अबोध एवं निर्दोष बालिका का जीवन मोल ले कर अपना खिलौना बनाना चाहते थे न ? छिः-छिः कैसी नीच प्रकृति है आप की ? कितना जघन्य एवं घृणित कार्य है आप का, और—और किस क़दर अक्षम्य है आप का यह अपराध ! वास्तव में देखा जाय, तो इन दुष्टों का इतना अपराध नहीं है, जितना कि आप जैसे भ्रष्ट पूँजीपतियों का। यदि आप लोग इतनी लम्बी-चौड़ी रक़म देकर इन हरामखोरों को इस तरह प्रोत्साहित न करें, तो फिर ये लोग ऐसा घृणित काम ही क्यों करें ?"

धीरेन्द्र के प्रत्येक शब्द में एक ओज था, और थी चेहरे पर एक तेजपूर्ण-आभा की चमक। जिसे देख कर सुरेश मन ही मन ख़ुश हो रहा था, किन्तु वे वृद्ध महाशय जो शादी कराने की इच्छा से ही यहाँ आये थे, इस समय लज्जा के मारे पानी-पानी हुए जा रहे थे। धीरेन्द्र के ओजस्वी भाषण का उनके हृदय पर काफ़ी प्रभाव पड़ा था, और भविष्य में इसका प्रायश्चित्त करने का उन्होंने संकल्प भी कर लिया। सुरेश और धीरेन्द्र के आगे हाथ जोड़ कर वे बोले—"भाई ! यद्यपि तुम दोनों मेरे बेटे के समान हो, पर अपना अपराध स्वीकार कर के मैं तुम दोनों के आगे इसकी क्षमा माँगता हूँ और साथ ही यह प्रतिज्ञा भी करता हूँ कि आज से मेरा तन-मन और धन शुभ कामों में ही लगेगा।"

सुरेश ने प्रसन्न हो कर गद्गद् कण्ठ से कहा—"ईश्वर करें माते-श्वरी गंगा के बीच में की हुई आप की प्रतिज्ञा अटल हो।"

इसके बाद वे सब लोग शहर में आये। वृद्ध महाशय तो दो-चार दिन ठहरने के ख़्याल से मोक्षधाम की तरफ़ चले गये, और सुरेश वगैरा अपने तीनों अपराधियों को लिये हुए पुलिस-स्टेशन पहुँचे और उन्हें हवालात में बन्द कर दिया।

× × ×

कई दिन तक सेठ दामोदरदास व कालीचरन के विरुद्ध मुक़दमे की कार्यवाही होती रही। दोनों ने अपनी सफ़ाई के लिये यद्यपि पूरी-पूरी चेष्टा की, परन्तु उनके विरुद्ध धीरेन्द्र की गवाही इतनी ज़ोरदार रही, कि वे अदालत में अपराधी साबित हो ही गये। उन लोगों के अँगूठे लगे हुए और हस्ताक्षर किए हुए तीनों पत्र उन्हें अपराधी सिद्ध करने का अकाट्य परमाण साबित हुए। अतएव इस भयानक अपराध में दामोदर और कालीचरन को दो-दो वर्ष की तथा उनके दलाल को पुराना अपराधी होने के कारण तीन साल के कारा-वास का दण्ड दिया गया।

सुरेश अपने मित्र को सीधे रास्ते पर लाकर उसकी भी उन्नति कराना चाहता था। यह अवसर उसके लिये बहुत अच्छा था, अतः उसने धीरेन्द्र के लिये भी अपने उच्च अधिकारियों से सिफ़ारिश की। परिणाम स्वरूप उसे भी पुलिस-विभाग में जगह मिल गई। सुरेश के, अधीन काम कर के थोड़े दिनों में ही धीरेन्द्र अपने उच्च अफ़सरों की दृष्टि में चढ़ गया, और दिनों दिन अपने काम में उन्नति करने लगा। पिछले तमाम दुष्कृत्यों को भूल कर वह अब नित्य नये उत्साह से दुष्टों को पकड़ने में लग गया।

एक दिन सन्ध्या समय स्वामी आलोकानन्दजी के मोक्षधाम में सुरेश अपने पिता और धीरेन्द्र के साथ वहाँ गया। स्वामीजी ने

स्वयं ही उन लोगों को आमंत्रित किया था। सुरेश के पूछने पर स्वामीजी ने एक सेठ के साथ उन लोगों का परिचय कराते हुए कहा—'सुरेश बाबू और धीरेन्द्र !' आप लोग शायद इन सेठजी को भली प्रकार जानते होंगे। यह हैं सेठ फग्गामलजी !

यद्यपि मेरा इनके साथ पहला कोई परिचय नहीं है, किन्तु अभी कुछ दिनों से ये हमारे आश्रम में ठहरे हुए हैं। बातचीत में बहुत सज्जन और स्पष्टवक्ता हैं। यहाँ आकर अपनी यात्रा का पूरा-पूरा हाल इन्होंने मुझसे बता दिया है।"

धीरेन्द्र—"ये वे ही तो हैं, जो शायद दामोदर दास व कालीचरन के बुलाने पर लाहौर से यहाँ आये थे ?"

स्वामीजी—"हाँ, यहाँ आकर इन्होंने कुल बातें सच-सच बता दी हैं। यद्यपि ये आये थे दूसरे ही उद्देश्य से तथापि अब इनमें भारी परिवर्त्तन हो चुका है और यह अपने उस पाप का प्रायश्चित करना चाहते हैं ?

इतना कह कर उन्होंने प्रश्नसूचक दृष्टि से बारी-बारी सब की ओर देखा। सब को चुप देख कर धीरेन्द्र ने ही सब से पहले पूछा—"अपने पाप का प्रायश्चित यह किस ढंग से करना चाहते हैं, स्वामीजी ?"

स्वामीजी ने एक बार सेठजी तरफ़ देख कर कह—"तुम्हें मालूम है लाहौर से वे यहाँ क्यों आये थे ?"

धीरेन्द्र ने निसङ्कोच भाव से उत्तर दिया—"अपना तीसरा विवाह करने आये थे, शायद !"

स्वामीजी बोले—"शायद नहीं, बल्कि निश्चय ही वे इस पचास वर्ष की आयु में भी एक विवाह और भी करना चाहते थे, और इसी का वे प्रायश्चित करना चाहते हैं। जिस कुमुद के साथ वे स्वयं अपना विवाह करना चाहते थे, अब उसी को वे अपनी लड़की बना कर किसी योग्य वर के साथ उसका विवाह कर देना चाहते हैं।"

सुरेश के पिता एकाएक चौंक पड़े, और कुछ आश्चर्य से बोले—"लेकिन वह तो विधवा है, स्वामीजी !"

स्वामीजी ने गम्भीरता पूर्वक कहा—"विधवा है, लेकिन कैसी? बाल-विधवा—जिसने कभी अपने पूर्व पति का मुख भी नहीं देखा, जो यह भी नहीं जानती कि कभी उसका विवाह हुआ भी था या नहीं। ऐसी निर्दोष विधवा का यदि पुनः विवाह कर दिया जाय, तो कोई पाप नहीं पण्डित जी ! आप स्वयं सोच कर इसका निर्णय करें।"

पण्डितजी चुप होकर गम्भीर-चिन्तन में लीन हो गये। यद्यपि पुराने विचारों के पक्षपाती होने के कारण विधवा-विवाह के वे विरोधी थे, तथापि सोचने लगे कि ऐसी बाल-विधवा जिसने कभी अपने पति का मुख भी नहीं देखा, उसका पुनः विवाह कर देने में दोष भी क्या हो सकता है। अब प्रश्न है उसके साथ विवाह कौन करेगा? क्या सुरेश? किन्तु उसकी ओर से तो आज तक उन्हें एक भी बात ऐसी नहीं दिखाई दी, जिससे उसकी इच्छा का थोड़ा-बहुत भी आभास मिले। केवल उनकी स्त्री का सन्देह ही था, पर इससे क्या? उसने तो कभी भी नहीं कहा। फिर...फिर कौन?

अभी वे किसी निश्चय पर पहुँच भी न पाये थे कि सहसा स्वामीजी ने कहा—"कुमुद के योग्य हमारे सामने इस समय दो नवयुवक हैं—सुरेश और धीरेन्द्र ! इनमें से कोई भी उसके साथ विवाह कर सकता है।"

सब की दृष्टि एक साथ ही दोनों युवकों की ओर जा लगी। सुरेश और धीरेन्द्र अभी तक चुप बैठे हुए थे, किन्तु अब सुरेश ने ही सब से पहले बोल कर निस्तब्धता भङ्ग की। वह बोला—"मैं अपने मित्र धीरेन्द्र को ही कुमुद के योग्य वर पसन्द करता हूँ। आप लोगों से भी मेरा यही अनुरोध है कि धीरेन्द्र के साथ उसका विवाह कर दें।"

पण्डितजी का मस्तक अपने बेटे की बात सुनते ही गर्व से ऊँचा हो गया। स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए, और धीरेन्द्र भी! वह तो पहले ही से अपने मित्र के उपकारों से लदा हुआ था, अब और भी आभारी हो गया। कृतज्ञता के बोझ से उसका सिर नीचे को झुक गया और एक भी शब्द अपने मुख से वह न निकाल सका। अस्तु—

एक सप्ताह के भीतर ही शुभ मुहूर्त्त में बुआजी की अनुमति से कुमुद का विवाह धीरेन्द्र के साथ कर दिया गया। सेठ फग्गामल ने दिल खोल कर इस विवाह में रुपया खर्च किया, और वह नक़द दो हज़ार रुपया उन्होंने धीरेन्द्र को दहेज के रूप में दे दिया, जिससे उसने पुराने 'मित्र-सदन' को पुनः निर्माण कर के नये सिरे से अपने रहने के योग्य बना लिया, और अपनी नव-वधू के साथ उसी में रह कर आनन्द के साथ सत्पथ पर चल कर निर्भीकतापूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगा।

सेठ फग्गामल ने इतना ही नहीं, बल्कि दस हज़ार रुपया मोक्ष-धाम आश्रम को भी दान देकर अपने पापों का पूरा-पूरा प्रायश्चित किया।

॥ समाप्त ॥

'माया सीरीज़' की पुस्तकें—

—**********—
****